त्राटक से मानसिक शान्ति

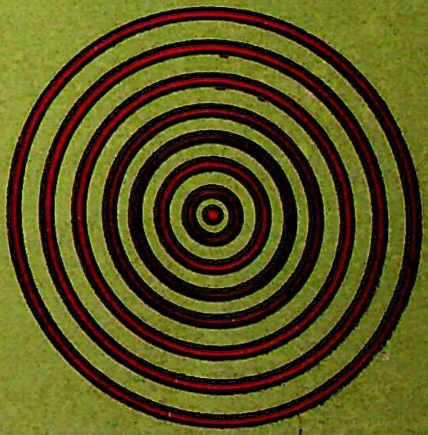

त्राटक से मानसिक शान्ति

(मानसिक शान्ति की अनुभवात्मक त्राटक साधना विधि की मार्गदर्शक कृति)

लेखक :—

डा० चमनलाल गौतम

रचयिता : कुण्डलिनी जागरण, नादयोग, ध्यान की सरल साधनाएँ, ध्यान के गहरे प्रयोग, योग महाविज्ञान, प्राणायाम के असाधारण प्रयोग, भक्ति योग, ध्यान द्वारा चिन्ता निवारण, प्रेम की उच्च साधना आदि ।

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजाकुतुब, (वेद नगर), बरेली—२४३००३ (उ०प्र०)

फोन नं० ४२४२

प्रकाशक :
डॉ० चमन लाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब, (वेद नगर) बरेली—२४३००३ (उ० प्र०)
फोन : ४२४२

*

लेखक :
डा० चमनलाल गौतम

*

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

*

प्रथम संस्करण
सन् १९८०

*

मुद्रक :
शैलेन्द्र वी. माहेश्वरी
नवज्योति प्रेस
सेठ भीकचन्द मार्ग, मथुरा

*

मूल्य : पाँच रुपये मात्र ।

भूमिका

इस तथाकथित वैज्ञानिक युग का प्रगतिशील मानव जितना अशांत दिखाई देता है, उतना किसी युग का नहीं रहा। विज्ञान के बढ़ते चरण भौतिक रूप से उसका असाधारण विकास करते चले आ रहे हैं, परन्तु आश्चर्य ! कि वह मानसिक रूप से दिन-दिन निर्बल, अशक्त, निराश, असन्तुष्ट और अशान्त होता चला जा रहा है। इस समय विकसित मानव की प्रमुख समस्या मानसिक शान्ति है जिसे वह भौतिक साधनों से ही प्राप्त करने का प्रयत्न करता है परन्तु असफल रहता है।

भारतीय धर्म शास्त्रों में मानसिक शान्ति के विभिन्न उपाय वर्णित किए हैं। उनमें प्रमुख मन्त्र व योग साधनायें हैं। मन्त्र साधनाएँ सभी प्रभावशाली हैं और सभी मन्त्रों का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता ही है, परन्तु मन्त्र साधनाओं की इतनी लम्बी सूची है कि साधारण व्यक्ति का अपने अनुकूल मन्त्र का चुनाव अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। ध्यान तो निश्चित रूप से मानसिक शान्ति का अचूक उपाय हैं। विभिन्न संस्थाएँ अपने-अपने ढंग से ध्यान योग का प्रचार भी कर रही हैं। हम स्वयं लम्बे समय से मन्त्र, ध्यान और त्राटक साधनाएँ कर रहे हैं। सभी से लाभ हुआ है परन्तु हमारा अनुभव यह है कि त्राटक सभी योग साधानाओं में सरल, सुसाध्य और प्रभावशाली है। दीर्घकालीन कठिन तपश्चर्याओं की अपेक्षा इससे कम समय में अधिक लाभ प्राप्त होता है। इसकी विशेषता यह है कि मानसिक स्थिरता, मनोजय और मनोलय के लिए यह सर्वाधिक प्रभावशाली साधन है। सफल साधक केसभी मानसिक दुःख चिन्ताएँ और तनाव शिथिल हो जाते हैं और वह असाधारण रूप से शान्ति का अनुभव करता है। त्राटक साधना से साधक आत्मविकास की उच्चतम स्थिति तक पहुँच सकता है, ऐसा हमारा विश्वास है।

—चमनलाल गौतम

त्राटक से मानसिक शान्ति
की
विषय-सूची

१.	मन का विश्लेषण	५
२.	अन्तर्दर्शन	१३
३.	मन के विकार और उनका परिशोधन	१९
४.	मन और दृढ़ संकल्प	२४
५.	मानसिक स्थिरता के लिये विभिन्न साधन	२८
६.	ध्यान योग का एक रूप-त्राटक	३२
७.	मन सत्व, रज और तम का सम्मिश्रण मात्र है	३४
८.	विश्व निर्माण का कारण मन	३८
९.	योग साधना से मन पर विजय	५०
१०.	षट्कर्म में निर्दिष्ट त्राटक साधना	६०
११.	साक्षि भावना और योग सिद्धि	६७
१२.	साक्षिभाव और साक्षात्कार	७८
१३.	मनोजय का श्रेष्ठ साधन-त्राटक योग	८०
१४.	त्राटक का मन की शक्तियों पर प्रभाव	८२
१५,	त्राटक द्वारा बिखरी शक्तियों का संगठन	९६
१६,	त्राटक साधना की विभिन्न उपलब्धियाँ	११२
१७.	त्राटक ध्यान एक सशक्त मानसिक प्रक्रिया	१२९
१८.	त्राटक एक सरल साधना	१३५
१९.	मन की प्रसन्नता में त्राटक ध्यान का योगदान	१३८
२०.	मन की एकग्रता और मादक वस्तुएँ	१४२
२१.	धारणा ध्यान समाधि की त्रिपुटी	१४३
२२.	तुरीयावस्था और दोनों मनों का एकीकरण	१४९
२३.	अन्तर्मन का जागरण	१५२
२४.	त्राटक साधना की विधि और अनुभूतियाँ-अक्षर ब्रह्म ओंकार का त्राटक, भगवान ओंकार के छाया चित्र का त्राटक।	१५५

नाटक से मानसिक शान्ति

मन का विश्लेषण

मन और उसके स्वरूप

मन के दो भेद प्रमुख रूप से माने गये हैं—चेतन और अचेतन। कुछ मनोवैज्ञानिक अवचेतन के रूप में एक तीसरा भेद और मानते हैं। इस विषय में कुछ मतभेद भी हैं, जिन पर विचार करना हमारा अभीष्ट नहीं।

मन का चेतन स्तर

मन के चेतन स्तर में हमें ज्ञान का अनुभव होता है। सुनते-लिखते या विभिन्न कार्यों को करते समय जो ज्ञान हमें रहता है, वही चेतन मन का कार्य है। चेतना के केन्द्र में प्रत्येक वस्तु को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। इसमें मन की सभी क्रियाएँ तीव्र रहती हैं। इसी चेतना को बाह्य ज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं।

वस्तुतः मन का चेतन स्तर ही हमें वर्तमान का पूर्ण रूप से अनुभव कराता है। विलियम जेम्स नामक एक पाश्चात्य विद्वान् का मत है कि चेतना का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से रहता है। प्रत्येक व्यक्ति का मन अपने विचारों को अपने पास रखता है, जिससे उसके मानसिक

विचार उसी में निहित रहते हैं। इसका अभिप्राय है कि जब मन का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से हो तो चेतना का सम्बन्ध भी उसी से होगा। इससे यह समझा जा सकता है कि चेतना सदा ही किसी प्राणी विशेष में होती है, चाहे वह मनुष्य हो अथवा कोई पशु आदि। मैक्डूगल का मत है कि जो कुछ भी अनुभव होता है, वह अवश्य ही किसी व्यक्ति से सम्बन्धित होना चाहिये।

चेतन मन को ही कुछ विद्वान् जाग्रत मन भी कहते हैं। क्योंकि जाग्रतावस्था में उसी मन के द्वारा सांसारिक वस्तुओं का अनुभव होता है। वस्तुतः इस मन को बाहर से जो प्रेरणायें मिलती रहती हैं, उनके द्वारा तो वह प्रभावित रहता ही है कि अन्तर्मन से निकलने वाली प्रेरणायें भी उसे पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किये रहती हैं। इस कारण चेतना के स्तर में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।

पाश्चात्य विद्वान् भी मानते हैं कि चेतना निरन्तर बदलती रहती है। मनुष्य एक क्षण किसी वस्तु, घटना या विचार के विषय में चैतन्य होता है तो दूसरे ही क्षण उसमें बदलाव हो जाता है। जेम्स के मत में चेतना एक नदी के पानी के समान है। जैसे पानी प्रतिक्षण, प्रतिपल बदलता रहता है, वैसे ही चेतना भी बदलती रहती है।

प्रत्येक व्यक्ति एक समय में एक ही सम्बन्धित वस्तु पर ध्यान केन्द्रित रख सकता है। और ध्यान का केन्द्रीयकरण उसी वस्तु पर रहता है जिससे चेतना का घनिष्ठ सम्बन्ध हो रहा है। वस्तुतः उसी उत्तेजना के विषय में चेतना रहती है जिसमें रुचि, मनोवृत्ति तथा मूल आवश्यकताओं का समावेश रहता हो।

मनोवैज्ञानिकों ने मन को अनेक शक्तियों का संग्रह मात्र माना है। मन में अनेक शक्तियाँ विद्यमान हैं तथा उन शक्तियों के पृथक्-पृथक् कार्यक्षेत्र मस्तिष्क में रहते हैं। मानसिक क्रियाओं के सम्बन्ध में खोज करने से विदित होता है कि मन समग्र रूप से क्रियाशील रहता है।

कुछ विशेषज्ञ मन को केवल एक समग्र ही नहीं, वरन् चेतन समग्र मानते हैं। मानसिक शक्तियों और क्रियाओं में परिवेश के प्रति अनुक्रिया होने के कारण निरन्तर विकास होता रहता है। फ्रॉयड ने इड, ईगो और सुपर ईगो की उप कल्पना उपस्थित की थी, जिनमें ईगो और सुपर ईगो दोनों का विकास परिवेश में होता है।

चेतना केन्द्र में प्रत्येक वस्तु स्पष्ट तथा अन्य वस्तुओं से पृथक् देखी जा सकती है। इसी को ध्यान का क्षेत्र कहते हैं। इस केन्द्र के चारों ओर चेतना का सीमा प्रदेश होता है। इसमें ध्यान केन्द्रित नहीं रहता, इसलिए इसे अनवधान का क्षेत्र कहते हैं। इसमें वस्तुएँ धुँधली और अस्पष्ट दिखाई देती हैं। उदाहरणार्थ चन्द्रमा को देखते हैं तब तारों की उपस्थिति का भी कुछ अस्पष्ट सा आभास होता है। स्टाउट के मत में यह स्तर अवचेतन (सब कन्शस) है।

सभी कार्यों के प्रत्यक्ष अनुभव का कारण चेतन मन ही है। वृहदारण्यक-उपनिषद् ने इस विषय में कहा है—'मेरा मन अन्यत्र था, इसलिए मैं नहीं देख सका। वह मन से ही देखता और सुनता है। काम, संकल्प, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि और भय यह सब मन रूप ही हैं, यदि कोई पीछे से स्पर्श करता है, तो मन के द्वारा ही जान लिया जाता है।'

अवचेतन मन

चेतना-केन्द्र के साथ ही चेतना का जो दूसरा स्तर है, उसे अवचेतन कहते हैं। चेतना के क्षेत्र में जो ज्ञान स्पष्ट होता है, वह अवचेतन के क्षेत्र में अस्पष्ट एवं धुँधला-सा रहता है। विलियम जेम्स नामक विद्वान् ने इसे चेतना-सीमान्त नाम दिया हैं। इस चेतना सीमान्त में अनुभवों का एक भाग एकत्र होजाता है।

हम जो कुछ भी अनुभव करते हैं और उसमें जो कुछ एकत्र होता है, वह सब चेतना में रहना सम्भव नहीं होता, इसलिये उन अनुभवों को हमारा मन अपने अवचेतन स्तर में एकत्र करता रहता है। अपेक्षा होने पर अवचेतन भाग के अनुभव चेतन भाग में सरलता से लाये जा सकते हैं। वस्तुतः जब अनुभव आदत (स्वभाव) में आजाते हैं, तब उन्हें अवचेतन भाग में स्थान मिल जाता है। वे ही अनुभव जब अधिक परिपक्व बन जाते है, तब संस्कार का रूप धारण कर लेते हैं।

अवचेतन की स्थिति चेतना-द्वार के नीचे रहती है। इसके अस्तित्व के विषय में परोक्ष प्रमाण उपलब्ध हैं। स्टाउट ने जिसे अवचेतन स्तर कहा है, उसी को फ्रॉयड तथा हार्फडिंग ने अचेतन कह कर पुकारा है। वस्तुतः यह स्तर अतीत के अनुभवों और संस्कारों का संग्रहालय है। इसकी चेतना प्रत्यक्ष रूप में नहीं रहती, इसलिये इसे स्पष्ट कुछ भी मान सकते हैं।

मन के अवचेतन स्तर पर जिन वस्तुओं, विचारों, परिदृश्यों आदि के अनुभवों का अस्तित्व होता है, उनकी चेतना बहुत मन्द रहती है। स्टाउट ने अवचेतन की निम्न विशेषताओं, का प्रतिपादन किया है—

(१) अवचेतन मन के विषय विश्वास और निर्णय से परे रहते हैं तथा उन विषयों की सामग्री को चेतना के स्तर में सरलता से लाया जा सकता है।

(२) अवचेतन स्तर पर एकत्र हुए संस्कार चेतन स्तर पर आने के लिये सदैव चेष्टाशील रहते हैं।

(३) चेतना-सीमान्त में जो संस्कार रहते हैं, वे चेतना के केन्द्र में विद्यमान नहीं रह पाते।

स्टाउट का ही मत है कि 'चेतन के आंशिक संघटक परस्पर एक दूसरे से किसी ऐसी वस्तु द्वारा पृथक् नहीं किये जा सकते जो चेतना के

भाव से पृथक् हों।' इस प्रकार मानसिक स्तर का यह विभाजन
सिक व्यवहार की व्याख्या में एक प्रकार से उपकल्पना स्वरूप ही
सकते हैं और उनसे मन के विविध व्यवहारों की व्याख्या में पर्याप्त
ता मिल सकती है।

अचेतन मन

मन का एक स्तर अचेतन (अनकन्शस) है। हमारी मानसिक
ाओं का क्षेत्र एक मात्र चेतन ही हो, ऐसा नहीं है। अनेक बातें
मृत होजाती हैं और वे ही कुछ दिनों बाद याद आ जाती हैं। कभी-
ी व्यक्ति को देख कर हम सोचते हैं कि इसे पहिले कभी देखा अवश्य
किन्तु कब, कहाँ देखा ? इसकी याद नहीं आपाती। बहुत बार देखे
व्यक्ति को भूलने पर भी उसकी याद कुछ दिनों में या कुछ समय
ही आजाती है। कभी किसी वस्तु या मनुष्य को देखने पर सुप्त
नाएँ जाग्रत् हो जाती हैं। अनेक बार जो स्वप्न दिखाई देते हैं,
का अधिकांश भाग या पूरे का पूरा स्वप्न पहिले से देखा, सुना हुआ
ा है।

सम्भव है आपने यह अनुभव किया हो कि हमें रात्रि में तीन बजे
ा है तो आपकी आँख निश्चित समय पर खुल गई होगी। बहुत
कुछ समस्याएँ विकट रूप से सामने आती हैं और सुलझ नहीं
, किन्तु कुछ समय के पश्चात् उनका समाधान स्वतः सूझ
ा है।

चेतन स्तर पर अनेक वस्तुएँ हमारे ध्यान के क्षेत्र में विद्यमान
हैं और हमें उनका प्रत्यक्ष ज्ञान रहता है। किन्तु अचेतन स्तर
ह बात नहीं रहती। क्योंकि उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं रहता।
में इच्छाओं की अभिव्यक्ति होती है,किन्तु अचेतन में इच्छाएँ दबी
छिपी हुई रहती हैं। ऐसा होने पर भी चेतन स्तर की अपेक्षा अचे-
स्तर अधिक महत्वपूर्ण है।

अचेतन के अस्तित्व के विषय में अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। एक मुख्य प्रमाण मन की सम्मोहित अवस्था है, जिसमें व्यक्ति की चेतना उसकी जाग्रत् चेतना से पूर्ण रूपेण विपरीत रहती है। बाह्य रूप से प्रतीत होता है कि वह व्यक्ति निद्रित अवस्था में है, किन्तु सम्मोहक (हिप्नोटिस्ट) के आदेश के प्रति विशेष रूप से चैतन्य प्रतीत होता है। वह जब उस अवस्था से मुक्त होकर उठता है, तब उसे अपनी सम्मोहित अवस्था के विषय में कुछ भी जानकारी नहीं या स्मृति नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि सम्मोहित अवस्था में व्यक्ति की चेतना का जो स्तर था, वही चेतन है, क्योंकि वह जाग्रत् अवस्था में नहीं हो सकती।

सम्मोहन से भी अधिक सबल प्रमाण सम्मोहनोत्तर संकेत (पोस्ट हिप्नोटिक सजेशन) है, जिसमें सम्मोहित व्यक्ति को निश्चित समय पर कोई कार्य करने का निर्देश दिया जाता है और वह उसका पालन उसी समय पर अवश्य करता है। बर्नहीम ने इस प्रकार के एक प्रयोग के विषय में कहा है कि उसने एक व्यक्ति को निश्चित समय पर जिस कार्य का आदेश दिया, उसने विवश होकर उसे उसी प्रकार पूरा किया। अमेरिका में एक हत्या का मामला सामने आया, जिसमें असली हत्यारा गोली मारने वाला नहीं था, क्योंकि उसने सम्मोहित अवस्था में गोली चलाई थी। बात यों थी कि एक हिप्नोटिस्ट ने सम्मोहन की अवस्था में लाकर गोली मारने वाले व्यक्ति को गोली मारने केलिये विवश करदिया था। स्पष्ट है कि गोली मारने वाला निर्दोष था और उसने हिप्नोटिस्ट के संकेत से बाध्य होकर ही हत्या की थी।

मानसिक रोग भी अचेतन का अस्तित्व प्रमाणित करते हैं। फ्रॉयड ने एक स्त्री के विचित्र व्यवहार की चर्चा की है कि वह सफेद मेजपोश पर लाल स्याही उलट देती, नौकर को बुलाने के लिये घंटी बजाती

और मेज के कोने पर इस प्रकार खड़ी होती जिससे स्याही के निशानों को कोई देख न सके। इस प्रकार के कार्य की पृष्ठभूमि में सुहागरात का वह व्यवधान था, जिसे वह अचेतन मन में सँजोये थी और उसी के कारण इस प्रकारके असामान्य कार्यों द्वारा सन्तुष्ट होती थी।

फ्रॉयड ने एक डॉक्टर की चर्चा की है, जिसने दवा बनाने वाली एक फर्म को लिखा कि उसने विष का मनुष्यों पर परीक्षण किया। उस समय इसे कलम की भूल (स्लिप ऑफ पेन) ही समझा गया, क्योंकि मनुष्यों पर विष के परीक्षण का अभिप्राय हत्या करना ही होता वस्तुतः वह डाक्टर मनुष्यों के स्थान पर सुअरों लिखना चाहता था, किन्तु भूल से 'मनुष्यों' शब्द लिख गया। बाद में पुलिस ने खोज की तो यह तथ्य सामने आया कि उसने मनुष्यों को ही विष दिया था। वस्तुतः लिखने में ऐसी असामान्य त्रुटि का कारण अचेतन मन ही है।

यद्यपि सभी प्रकार के स्वप्नों का एक मात्र कारण अचेतन मन ही नहीं माना जाता, तो भी यह तथ्य भी अमान्य नहीं किया जा सकता कि स्वप्नों के निर्माण में अचेतन कारणों का बहुत बड़ा हाथ है। इस प्रकार यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि मनुष्य की निरुद्ध अथवा दमन की हुई वासनाएँ और प्रवृत्तियाँ अभिव्यक्ति की प्राप्ति के लिये प्रतीक्षा करती रहती हैं। उनका स्थान एक मात्र अचेतन मन ही है।

फ्रॉयड की भी मान्यता है कि अचेतन में वे अनुभव विद्यमान रहते हैं, जिनका दुःखदायी होने के कारण दमन कर दिया गया है। अथवा मूल प्रवृत्तिजन्य वे वासनाएँ भी, जिन्हें चेतन स्तर पर आने का अवसर नहीं मिलता, अचेतन में ही विद्यमान रहती हैं। फ्रॉयड ने इन वासनाओं में यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की अधिकता मानी है, किन्तु एडलर ने इन वासनाओं को शक्ति (पॉवर) की इच्छा से सम्बन्धित होना स्वीकार किया है।

युग का मत है कि हम जन्म से ही अचेतन का एक बड़ा भाग लिये हुए संसार में आते हैं। युग ने निजी और सामूहिक के भेद से अचेतन को दो प्रकार का माना है। उसकी मान्यता है कि निजी अचेतन में वे समस्त अनुभव संचित रहते हैं, जो भुला दिये गये हों अथवा जिनका दमन कर दिया गया हो।

सामूहिक अचेतन जन्मजात है, जिसमें हजारों वर्षों से चले आ रहे जन्म-जन्मान्तरों के वे अनुभव जो संस्कार रूप में विद्यमान रहे हैं, साथ रहते हैं। उन अनुभवों में समस्त प्रवृत्तियों और प्रतिक्रियाओं का समावेश रहता है।

अचेतन मन में विचारों का तो अभाव रहता है, किन्तु स्वाभाविक और मूल प्रवृत्तियों का अभाव नहीं रहता। हमारे जन्म-जन्मान्तरों के विभिन्न व्यवहारों के आदि स्रोत अचेतन में ही रहते हैं। इसलिये मानव जीवन में अचेतन मन का महत्व सब से अधिक है।

यह मान्यता प्रबल है कि स्वप्नों का संचालन अचेतन मन से ही होता है। अचेतन में ही मानसिक उल्लास और व्याधि दोनों की ही विद्यमानता है। मनुष्य की कल्पनाशक्ति का आधार भी अचेतन मन ही है। उसके कारण अनेक भूलें भी होजाती हैं।

स्वप्न, दिवास्वप्नादि तथा अनेक असामान्य व्यवहार अचेतन में रहते हुए ही चेतन स्तर पर आभासित होने लगते हैं। इसी के द्वारा हम अपने मानसिक रोगों, मानसिक अशान्तियों को दूर करने में सफल हो सकते हैं। हम जो कुछ सीखते हैं, जो कुछ जानते हैं, वह चेतन-स्तर पर न रहते हुए भी अचेतन स्तर पर रहते हैं। अचेतन स्तर ही साहित्य, संगीत, कला ज्ञान, विज्ञान तथा सूझ-बूझ आदि में प्रमुख कारण होता है। अन्तर्दृष्टि के जागरण में भी इससे सहायता ली जा सकती है।

प्रायः चेतन और अचेतन में प्रवृत्तियों में संघर्ष भी रहता है और वही संघर्ष मनुष्य में अनेक प्रकार के असामान्य व्यवहार की सृष्टि करता है। यदि अचेतन मन पर नियन्त्रण कर लिया जाय तो सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की जा सकती है।

अन्तर्दर्शन

अपने स्वयं के भीतर की क्रियाओं का निरीक्षण करना अन्तर्दर्शन कहलाता है। इसमें मनुष्य अपनी मानसिक स्थितियों और क्रियाओं के विश्लेषण चाहे जा कर सकता है। अन्तर्दर्शन का अर्थ ही भीतर देखना है। वस्तुतः अन्तर्दर्शन स्वयं के अनुभवों की एक कसौटी है। इसी को प्राचीन विद्वान् आत्म-निरीक्षण की एक प्रक्रिया मानते रहे हैं। हम जो कुछ शुभ या अशुभ अनुभव करें, उसका विवेचन कर लें, उससे हमारी मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन सरल होता है।

मान लीजिये कि किसी एक व्यक्ति ने चलचित्र देखा, वह कैसा लगा? यह उसके अपने अनुभव का विषय है। चित्र कामुकता पूर्ण है, मन उसकी ओर आकर्षित रहता है और बाद में विश्लेषण करने पर लगे कि चित्र अच्छा था तो स्पष्ट है कि मन कामुकता की ओर जा रहा है। यदि उस चित्र के प्रति अरुचि प्रतीत हो तो समझा जायगा कि मन कामुकता को पसन्द नहीं करता। इससे यह सहज ही समझ में आ जाता है कि कोई भी दृश्य, कोई भी स्थिति अपने-अपने व्यक्तिगत अनुभव का विषय हो सकती है। एक मान्यता है कि युवावस्था आने

पर मनुष्य की मनोदशा में परिवर्तन आ जाता है, किन्तु वह परिवर्तन क्या है ? यह प्रत्येक व्यक्ति के अपने स्वयं के अनुभव की वस्तु है। किसी दूसरे के अनुभव का लाभ हमें नहीं मिल सकता। कोई भयभीत है तो यह आवश्यक नहीं कि हम भी भयभीत हों। इस प्रकार शोक, क्रोध, दुःख, सुख, प्रेम, द्वेष आदि सम्बन्धी विचार एवं प्रयत्न की जानकारी उसी को हो सकती है, जो उसका अनुभव कर रहा हो। किसी भी अनुभूति को बाहर से देख कर जान लेना कदापि सम्भव नहीं।

क्या आप अनुभव कर सकते हैं उस प्रेमी के प्रिय-वियोग को जो तिल-तिल कर दग्ध हो रहा है ? यदि आप भी उसी स्थिति में नहीं पड़े हैं तो उसका यथार्थ ज्ञान कभी नहीं कर सकते। एक लोकोक्ति है— 'जाके पाँव न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई ?' पाँव में बिवाई फटने पर जो कष्ट होता है, वह व्यक्तिगत अनुभव का ही विषय है, उस पीड़ा का ज्ञान देखने वाले को कभी नहीं हो सकता।

अन्तर्दर्शन मनुष्य के निजी अनुभव का विषय होने के कारण उसमें किसी अन्य व्यक्ति की सहायता अपेक्षित नहीं होती। कोई भी मनुष्य, जब भी चाहे अपनी मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन इस विधि के द्वारा सहज ही कर सकता है। कुछ लोग अन्तर्दर्शन को ही भीतर झाँकना कहते हैं।

एक व्यक्ति किसी दृश्य को देख कर जो अनुभव करता है, वही अनुभव उस दृश्य से अन्य व्यक्तियों को भी हो, यह आवश्यक नहीं है। अन्य व्यक्तियों के अनुभव की अपने अनुभव से तुलना करने पर भी उसका ठीक वैसा ही सिद्ध होना भी संदेहास्पद ही है। वस्तुतः सभी की मानसिक स्थिति समान नहीं होती इसलिये उनके अनुभवों में विभिन्नता भी स्वाभाविक ही है।

वस्तुओं के प्रत्यक्ष में और मानसिक प्रक्रियाओं के निरीक्षण में बहुत बड़ा अन्तर होता है, इसलिये उनकी समानता तो हो ही नहीं सकती। वस्तुएँ जड़, स्थूल, स्पष्ट और अपरिर्तनशील हैं, जब कि मानसिक प्रक्रियाएँ अस्पष्ट, सूक्ष्म और परिवर्तनशील होती हैं। इसलिए उनके प्रति यथार्थ निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये मन को एकाग्र करना अपेक्षित होता है। यह एकाग्रता कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है। अभ्यास से सभी कुछ साध्य हो जाता है—'करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।' अभ्यास बड़ी-बड़ी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कराने का प्रमुख साधन है।

मानसिक प्रक्रियाओं का निरीक्षण

कुछ व्यक्ति एक तथ्य प्रस्तुत करते हैं—'कैसे हो मानसिक प्रक्रियाओं का निरीक्षण ? मान लीजिते कि आप क्रोध की अवस्था का निरीक्षण करना चाहते हैं, किन्तु इच्छा करते ही क्रोध आजाय, यह संभव नहीं है और यदि क्रोध आ भी गया तो ज्यों ही उसका निरीक्षण करने लगोगे त्योंही वह शान्त हो जायगा। इसका अर्थ है कि मानसिक प्रक्रियाओं पर ध्यान दिया जाने पर ही वे तुरन्त गायब हो जाती हैं।

मनोवैज्ञानिकों ने इसका भी उपाय खोज लिया है। वे कहते हैं कि आप उस स्थिति पर स्मृति के द्वारा काबू पा सकते हैं। मान लीजिये कि क्रोध आया और ध्यान देते ही ठण्ठा पड़ने लगा तो उस समय की अवस्था के निरीक्षण में स्मृति की सहायता ली जा सकती है। क्रोध की अवस्था में मन की दशा कैसी थी, इसे बाद में भी याद कर सकते और उसके विश्लेपण में सफल हो सकते हैं। इस प्रकार अन्तर्दर्शन के कार्य में स्मृति बहुत सहायक हो सकती है।

अन्तर्दर्शन और मन की विभक्ति

कुछ लोग कहते हैं कि यह कैसे सम्भव है कि मन का निरीक्षण

मन ही करे ? एक ही मन ज्ञाता भी हो और ज्ञेय भी ? तो क्या इससे मन का विभक्त होना नहीं बनता ? कौम्ट नामक एक मनोवैज्ञानिक इसी आधार पर मन के विश्लेषण को अव्यावहारिक मानते हुए कहते हैं कि 'मन स्वयं ही अपना निरीक्षण करे, यह सम्भव नहीं है ।'

किन्तु कौम्ट अथवा उनके जैसे विचार रखने वालों का तर्क व्यवहार की कसौटी पर खरा नहीं उतरता । क्योंकि हम काम, क्रोध, मोह, योग वियोग, शोक, हर्ष, दुःख, सुख आदि का स्वयं अनुभव करते हैं । क्या यह अनुभव मानसिक प्रक्रियाओं का अनुभव नहीं है ? वस्तुतः आत्म-चेतना मानव मन की विशेषता है । मनुष्य अपना आत्म-चेतन होना स्वयं जानता है और वह जानना व्यवहार अनुभव दोनों से ही सिद्ध है । मनुष्य जैसे बाह्य वस्तुओं को देखता है, वैसे ही आन्तरिक वृत्तियों का भी निरीक्षण कर सकता है ।

स्टाउट का कथन है कि 'यदि मैं दर्शन-क्रिया का निरीक्षण करूँ तो मुझे दिखाई देने वाली वस्तु पर और उसे देखने वाली क्रिया पर एक साथ ही ध्यान देना पड़ेगा ।' इस प्रकार अन्तर्दर्शन में कभी-कभी ऐसी किसी मनोदशा पर ध्यान देना होता है, जो किसी बाह्य वस्तु से उत्पन्न होती है । परन्तु यह कठिनाई इस प्रकार सहज ही दूर की जा सकती है कि वस्तु और मनोवृत्ति दोनों में जल्दी-जल्दी ध्यान को दौड़ाया जाता रहे । ऐसा करने से वस्तु और मनोवृत्ति दोनों में ध्यान का प्रदोलन (ऑसिलेशन) होता रहेगा । इसके अतिरिक्त वस्तु पर ध्यान लगाते समय भी मनोवृत्ति का ध्यान रखने के लिए स्मृति की भी सहायता ली जा सकती है ।

किसी को क्रोध आये तो उसकी मनोदशा ही नहीं बदलती, मुखाकृति में भी परिवर्तन आ जाता है और इसी से दूसरे लोग जान लेते हैं कि वह व्यक्ति क्रोध में भरा है । किन्तु दूसरे लोग यह नहीं जान पाते कि उस व्यक्ति के क्रोध की सीमा क्या है ? यदि वह मनुष्य विवेक बुद्धि

से सम्पन्न है तो अपने क्रोध को कुछ नियन्त्रित भी रख सकता है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो क्रोध को कुछ नियन्त्रित भी रख सकता है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो क्रोध आने पर उसे इतना दबा लेते हैं कि सामान्य बुद्धि वाला मनुष्य बाह्य आकृति देख कर सहज में ही उनकी मनोदशा को जान नहीं पाते। किन्तु ऐसा नियन्त्रण अभ्यास से ही सिद्ध हो पाता है।

अभ्यास से ही सब सम्भव है

अभ्यास के द्वारा क्या नहीं हो सकता? एक बिल्ली पिंजड़े को कैसे खोल लेती है? यह जानने के लिये बिल्ली को पिंजड़े में बन्द कर दो और उसके लिये भोजन पिंजड़े से बाहर रखो। बिल्ली भूखी है तो वह भोजन की प्राप्ति के लिये पिंजड़े से बाहर आने का प्रयत्न करेगी, उसकी सलाखों को तोड़ने का प्रयत्न करेगी। उसे उछल-कूद में यदि उसका पंजा पिंजड़े के दरवाजे के हुक पर पड़े और वह खुल जाय तो वह बाहर आकर भोजन प्राप्त कर लेगी। उसके बाद उसे पुनः पिंजड़े में बन्द कर दें तो दुबारा निकलने में उसे कम समय लगेगा और बाद में तो उसे उसकी आदत ही पड़ जायगी।

इसी प्रकार किसी बालक को कुछ सिखाना है, कुछ व्यावहारिक ज्ञान देना है तो उसे उसका अभ्यास कराना होगा। एक ही क्रिया को बार-बार दुहराने का नाम ही अभ्यास है। अभ्यास से न जानी हुई विद्या आ जाती है, अभ्यास से दुर्गम स्थानों पर पहुँचा जा सकता है, अभ्यास से लम्बी छलाँग लगाई जा सकती है, उतनी लम्बी छलाँग कि सामान्य अवस्था में लगाना सम्भव नहीं। हनुमानजी ने लङ्का में पहुँचने के लिये अत्यन्त विस्तार वाला समुद्र छलाँग के द्वारा ही पार किया था।

अभ्यास से क्या नहीं हो सकता? अभ्यास के द्वारा स्वभाव बदले जा सकते हैं। बहुत-से क्रूर स्वभाव के मनुष्य अभ्यास के द्वारा ही शान्त

प्रकृति के हो गये। बहुत-से अज्ञानी मनुष्य अभ्यास के प्रताप से ही ज्ञानवान बन गये। योगी पुरुष अभ्यास के बल पर ही अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं।

आप किसी वस्तु को पाना चाहते हैं, उसके लिये बहुत-सी कठिनाइयाँ सामने हैं, आप प्रयत्न करके भी असफल हो जाते हैं तो यह कोई विशेष बात नहीं। जो लोग दृढ़ निश्चयी होते हैं, वे असफलता से घबराते नहीं, वरन् अपने प्रयत्न को तब तक दुहराते रहते हैं, जब तक सफल नहीं हो जाते।

और वह प्रयत्न उनके लिये अभ्यास बन जाता है। जिस कार्य की आदत नहीं, वह यदि उपयोगी है तो बार-बार दुहराइये उसे। जिसे कभी असम्भव समझते थे, वह सम्भव होता जाता है। उसमें आने वाली कठिनाइयों का निराकरण स्वतः होने लगता है। इस प्रकार अभ्यास एक दिन आदत या स्वभाव का रूप धारण कर लेता है।

अभ्यास से जब कार्य में सरलता आने लगती है, तब उसके प्रति रुचि भी बढ़ने लगती है। कठिन कार्य में रुचि का धीरे-धीरे अभाव भी हो सकता है। वैज्ञानिक लोग जानते हैं कि यदि अभ्यास न किया जाता तो विज्ञान इतनी प्रगति नहीं कर सकता था। संसार में बड़े-छोटे जितने भी आविष्कार हुए हैं, उन सब की निर्भरता किसी न किसी रूप में अभ्यास पर ही है।

रुचि नहीं है तो भी अभ्यास करने लगिये, केवल अभ्यास ही आपकी रुचि को जगा देगा। रुचि का विकास तभी होता है जब सम्बन्धित कार्य में सफलता की आशा रहती है और उस आशा का आधार अभ्यास ही है, ज्यों ज्यों-अभ्यास करेंगे आशा स्वयं तो जागेगी ही साथ ही रुचि को भी जगा लेगी।

मन के विकार और उनका परिशोधन

विकारों की विभिन्नता

मन में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। वे सभी मन के किसी कोने में न जाने कब से दबे पड़े रहते और अल्प कारण से ही चाहे जब प्रकट होजाते हैं। उसी प्रकार जैसे भूभल में दबी हुई आग चिंगारी वायु अथवा किसी दाहक पदार्थ का सम्पर्क पाकर जल उठती है।

विकार अनेक प्रकार के हैं, उनमें से अनेक तो वासना के नाम से भी जाने जाते हैं। काम, क्रोध, लोभ मोह, अहंकार, राग,द्वेष, ईर्ष्या आदि सब विकार ही हैं, जो अपने लिये सुविधाजनक परिस्थिति पाकर शीघ्र ही भड़क उठते हैं।

काम-विकार जब कुवासना का रूप धारण कर लेता है, तब भयङ्कर बन जाता है। जो मनुष्य वासना के मद में अन्धा हो जात है, उसे कुछ भी नहीं सूझता, इसलिये उसे कामान्ध कहते हैं। ऐसे मनुष्य कामुकता पूर्ण किसी जज्जाजनक या बर्बरतापूर्ण कर्मों से भी नहीं चूकते।

क्रोध की अधिकता वाला मनुष्य क्रोधान्ध कहलाता है। ऐसा व्यक्ति अपने विवेक को खो देता है और उसकी क्रूरता कभी-कभी तो इतनी बढ़ जाती है, जितनी शायद सिंहादि हिंसक पशुओं में भी न मिले। वह स्थिति अनेक दृष्टियों से बहुत ही खतरनाक सिद्ध हो सकती है।

लोभ बड़ी बुरी बला है। लोभी मनुष्य जैसे भी हो धन के संचय में ही विश्वास करता है। वह उसका सदुपयोग नहीं कर सकता। छदाम-छदाम में उसके प्राण बसे रहते हैं। ऐसा व्यक्ति अपने जीवन में तो कंजूसी के कारण दुःख उठाता ही है, अन्त में जीवन भर की कमाई को यों ही पड़ी छोड़ जाते हैं, जिसका लाभ उसके वारिसों को मिलता है।

किन्तु यदि वारिस (उत्तराधिकारी) यदि सुयोग्य हुआ तो उस संचित थाती का सदुपयोग करता है, अन्यथा अयोग्य हुआ तो उस सब को दुर्व्यसनों में फूँक देता है। इस प्रकार लोभी मनुष्य द्वारा संचित धन न तो उसके जीवन में किसी सत्कार्य में लगता है, न बाद में ही।

मोह भी मनुष्य को अवगति में डालने वाला है। स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति आदि का कैसा भी मोह हो, मनुष्य को अपनी ओर खींच कर बाँधे रहता है और वह मनुष्य अपने आत्मोत्थान के प्रयत्न में अग्रसर ही नहीं हो पाता।

अहंकार मनुष्य की उन्नति में बहुत बड़ा विघ्न है। क्योंकि अहंकारी मनुष्य अपने समान किसी अन्य को नहीं समझता। वह मानता है कि जो कुछ मैं करता या कहता हूँ, वही ठीक है। संसार में सबसे अधिक बुद्धि मेरे पास है अथवा मेरी प्रतिष्ठा या सम्पत्ति अद्वितीय है। और ऐसा मानने के कारण वह किसी दूसरे की अनुकूल बातों कोभी प्रतिकूल मानता है। सुनने योग्य बात को भी अपनी हठधर्मी के कारण नहीं सुनता। वस्तुतः उसके कारण ही उसे पतन का सामना करना पड़ता है।

इसी प्रकार राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि हैं। इन सब विकारों के प्रभाव में बुद्धि कलुषित और विपरीत विचारों से युक्त होजाती है। उसका

मन बार-बार इन्द्रियों के विषय-भोगों की ओर दौड़ता है, रोकने पर भी वश में नहीं होपाता।

मन पर उन कुविचारों का बड़ा बुरा प्रभाव रहता है। मन के द्वारा ही उत्पन्न, मन के द्वारा ही पोषित विकार मन को ही अपनी ओर खींचते रहते हैं। यही कारण है कि मन विषयाकार वृत्ति को धारण कर लेता और अपनी असीम शक्ति-सामर्थ्य को भी भूल जाता है।

किसी कामुक पुरुष को देखिये—वह अत्यन्त बलवान होकर भी दुर्बल स्त्री के आगे तुच्छ बन जाता है। वह स्त्री उसे अपने संकेत पर नचाती रहती है। यही हाल वासना का है, वह मन के समान बलवती नहीं होती, तो भी सशक्त मन को अपने फन्दे से निकलने नहीं देती।

वासना का यही खेल प्राणी को बार-बार जन्म-मरण के चक्र में घुमाता रहता है। इस स्थिति से जो मनुष्य अनभिज्ञ रहा है अथवा जो मनुष्य इस स्थिति की उपेक्षा करते हैं, वे अपने मानव जीवन को व्यर्थ ही गँवा देते हैं। उनकी दशा वही होती है जो प्रमाद में पड़े हुए उस वीर की हो, जिसने विजय का स्वर्णिम समय जान-बूझ कर गँवा दिया हो।

मनुष्य जन्म बार-बार मिल ही जाये, इसका कोई निश्चय नहीं। संसार में चौरासी लाख योनियाँ हैं, प्राणी को अपने द्वारा किये शुभाशुभ कर्मों के भोग के लिये ही विभिन्न योनियों की प्राप्ति होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि कौन सा कर्म योनि में कारण होता है।

विभिन्न योनियों में भ्रमण करता हुआ जीव किसी बहुत ही शुभ कर्म फल के उदय होने पर मनुष्य शरीर में आता है। यदि वह इस शरीर में भी न सँभले तो यह अवश्य ही उसका दुर्भाग्य होगा।

मन के न मानने का बहाना व्यर्थ है

कुछ मनुष्य यह कह कर सन्तोष कर लेना चाहते हैं कि मन नहीं

मानता। बस, मन के न मानने वाली धारणा में ही वे भोगों से विरक्त नहीं हो पाते। किन्तु वे इस तथ्य को शायद नहीं जानते कि मर्त्यलोक भोग भूमि है, शुभ कर्मों के भोग का अवसर आने पर ही मनुष्य देह मिलती है यदि हम दृढ़ता पूर्वक अपना भविष्य बनाने के लिए कटिबद्ध हो जायें तो मन हमारे संकल्प में बाधक नहीं हो सकेगा।

यद्यपि मन एक अदृश्य शक्ति है, वह कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसकी गति-विधि दिखाई दे जाय। वह हमारे ही विभिन्न अनुभवों को अपने में समेटे रहता है। हमारे वही अनुभव संस्कार रूप में जीवन की विभिन्न गति-विधियों में मुख्य कारण होते हैं। मन के प्रभाव से ही हमारे मस्तिष्क में एक ऐसी क्रिया सदैव होती रहती है, जिसके द्वारा समस्त संस्कारों का संचय होता रहता है।

जितने भी संसार हैं, वे मन के प्रभाव से ही स्थायी हुए हैं। उसी के प्रभाव से हम अपने अनुभवों को बिल्कुल ही भूल नहीं पाते। यही कारण है कि हमें समय-समय पर उन अनुभवों का स्मरण हो आता है।

कभी-कभी बुद्धि- विपर्यय के कारण अनेक अनुभव बहुत बार याद करने पर भी याद नहीं आते। किन्तु वे ही भूले हुए अनुभव सदा याद आजाते हैं। इसका मुख्य कारण बहुत बार मन-मस्तिष्क को विचार वैभिन्न में उलझे रहना ही है। उस स्थिति में अनुभव संचित तो रहते हैं, किन्तु उनकी वही स्थिति होती हैं जो रेत के ढेर में दबी हुई किसी वस्तु की हो। रेत उसे सब ओर से ढक-दाब लेती है, जिससे वह वस्तु दिखाई नहीं देतीं।

इस प्रकार जब मनुष्य वासना के चंगुल में दृढ़ता से फँस जाता है, तब कुविचारों की शृंखला बढ़ जाती है और वे इतने सबल हो उठते है कि जिससे बुद्धि-विपर्यय की स्थिति शीघ्र उत्पन्न हो जाती है। बुद्धि-

विपर्यय के कारण संस्कार दब जाते हैं और मन पर अधिक बोझ पड़ जाता है।

आपने किसी भार वाहक पशु को उस समय देखा हो, जब उस पर उसकी क्षमता से अधिक बोझा लाद दिया गया हो और फिर उसे चलने के लिए प्रेरित किया गया हो तो आपने वह भी देखा होगा कि वह पशु चल तो रहा है, किन्तु उसके पाँव डगमगा रहे हैं। पहिले तो वह चलने को भी राजी नहीं होता, जब उसे मार-पीट कर आगे बढ़ाया भी जाता है तो बेमन से चलता है और कभी-कभी तो बोझ को ही धरती पर पटक देता है।

मन भी जब अधिक भारी होजाता है तब उसकी गति गड़बड़ा जाती है। उसकी चंचलता बढ़ जाती है और वह क्षमता से अधिक विचारों के बोझ को भार वाहक पशु के समाप ही फेंक देना चाहता है। उस स्थिति में यदि उसे हमारा सहयोग मिल सके तो सचमुच ही वह भारमुक्त होकर अधिक उपयोगी बन सकता है।

इसलिए आवश्यकता है मन को भार से मुक्त करने की। उससे कुविचारों का बोझा उठा लिया जाय तो वह सुविचारों का भार सहज में ही वहन कर सकता है। क्योंकि कुविचारों में सूक्ष्मता होती है और जो वस्तु सूक्ष्म होगी, वह हल्की तो होनी ही चाहिए। स्थूल वस्तु बहुत भारी हो सकती है, और कुविचार स्थूल हैं, इस लिये उनका भार मन के लिये असहनीय बन जाता है।

मन और दृढ़ संकल्प

हमें मन की इस स्थिति को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए, यदि हम उसे कुविचारों से मुक्त कर सकें तो निश्चय ही आत्म लाभ को सुयोग प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिये हमें दृढ़ संकल्प लेना चाहिए। क्योंकि संकल्प की दृढ़ता अभीष्ट पूर्ति में बहुत अधिक सहायक हो सकती है।

दृढ़ संकल्प की बात चल पड़ी है तो उस विषय में भी कुछ विचार कर लेना अच्छा होगा छान्दोग्योपनिषद् में मैत्रेय का एक वृत्तान्त मिलता है—मैत्रेय अस्वस्थ था, उसे गम्भीर रोग ने घेर लिया था, लोग समझते थे कि वह कुछ ही दिनों का महमान है। किन्तु मैत्रेय ने निश्चय किया—"मैं ऐसा यज्ञ आरम्भ करूँगा जो एक सौ सोलह वर्ष में पूर्ण होगा।"

चिकित्सकों और अन्य लोगों ने उसकी बात को व्यर्थ का प्रलाप समझा और बोले—"तुम व्यर्थ बातें न करो, कुछ ही दिन के महमान हो संसार में, बहुत जिये तो दो सप्ताह तक। इससे अधिक जीवन नहीं है तुम्हारा।"

मैत्रेय ने दृढ़ता से कहा—"मैं अवश्य यज्ञ करूँगा। जब तक एक सौ सोलह वर्ष की अवधि वाला मेरा यह यज्ञ पूरा नहीं होगा, मृत्यु पास भी नहीं फटक सकती।"

उसने यज्ञ का आरम्भ कर दिया और जब एक सौ सोलह वर्ष बाद यज्ञ पूरा हो गया तब उसने मृत्यु से कहा—"मृत्यु ! तुझे आना हो तो अब आ सकती है।"

इस प्रकार दृढ़ संकल्प के कारण मैत्रेय ने अपना एक सौ सोलह वर्षीय यज्ञ सहज ही पूर्ण कर लिया । छान्दोग्य के ऋषि का मत है कि 'दृढ़ संकल्प के साथ प्रयत्न करने वाला मनुष्य अपने जीवन में अवश्य ही सफलता प्राप्त करेगा ।'

कोलम्बस की बात तो ऐतिहासिक है । वह स्पेन का था, लोग उसे पागल समझते थे । वह कहा करता कि मुझे 'भारत वर्ष पहुँचना है ।' लोग सोचते कि कहाँ स्पेन और कहाँ भारत । मार्ग बड़े-बड़े समुद्र पड़ेंगे, कैसे पहुँचेगा ?

परन्तु स्पेन की रानी ने उसकी इच्छा पुरी करने के विचार से एक बड़ा बेड़ा तैयार करने की आज्ञा दी तथा मल्लाहों को पुरस्कार का लोभ देकर प्रयाण के लिये तैयार किया बेड़ा चला तो चलते-चलते तीन चार दिन होगये, किन्तु सब ओर जल ही जल दिखाई देता था । मल्लाह ऊब गये और बोले—'कोलम्बस ! तू अपने साथ हमें भी ले डूबेगा । धरती का तो कहीं पता नहीं है ।'

कोलम्बस ने बहुत समझाकर उन्हें चलते रहने को राजी किया । इस प्रकार सात-आठ दिन और व्यतीत होने पर मल्लाहों ने फिर कहा—'कब तक चलते रहेंगे पानी में ?'

उसके बहुत अनुनय विनय करने पर मल्लाहों ने कहा—'बस तीन दिन का अवसर है तेरे लिये । इससे अधिक समय तक नहीं चलेंगे ।'

चलते-चलते तीसरा दिन आ गया । मल्लाह बोले—'अभी भी धरती का कहीं पता नहीं है । इससे तो अच्छा है कि अब वापस ही लौट चलें अन्यथा खाद्य सामग्री के अभाव में भूखों ही मर जाना पड़ेगा ।'

कोलम्बस ने दृढ़ता से कहा—'अभी तो तीन दिनों के पूरे होने में भी बहुत समय शेष है, कम से कम रात तो और बीतने दो ।'

मल्लाह झल्ला उठे, बोले—'ओ पगले ! तू हमें व्यर्थ परेशान कर रहा है। यदि रात्रि व्यतीत होने पर भी धरती दिखाई न दी तो हम तुझे रस्सी से बाँधकर इसी समुद्र में फेंक देंगे।'

वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहा—'इस समय तो बढ़ते चलो, रात बीतते पर धरती न दिखाई दे तो मुझे अवश्य ही समुद्र में फेंक देना।'

रात्रि व्यतीत हुई, चौथा दिन निकला, पानी पर कुछ झाड़ियाँ-सी तैरती हुई दिखाई दीं। कोलम्बस प्रसन्न होकर बोला—'वह आ गई धरती।'

मल्लाह बोले—'अरे पागल ! कहीं है भी धरती ?'

वह बोला—'पानी पर जो झाड़ियाँ दिखाई दे रही हैं, किसी धरती से ही कटकर आई होंगीं। अभी बढ़े चलो, धरती आने ही वाली है।'

कोलम्बस के तर्क के आगे मल्लाह चुप हो गये और आगे बढ़ाते रहे बेड़े को। इतिहास साक्षी है कि वह जिस दिशा में गया, वहाँ भारत तो न था, किन्तु १२ अक्तूबर १४४२ के दिन उसने अमेरिका की धरती पर अपना झण्डा गाड़ दिया। वस्तुतः यह उसके दृढ़ संकल्प का ही फल था।

इस प्रकार दृढ़ सङ्कल्प अत्यन्त शक्तिशाली होता है। यद्यपि यह एक यौगिक क्रिया ही है, तो भी विज्ञान की कसौटी पर भी खरी उतरती है। मनुष्य जिस कार्य के करने का पक्का निश्चय कर ले, और उस पर चलता रहे तो कार्य सिद्ध होकर ही रहता है।

आपको प्रातः तीन बजे की गाड़ी से कहीं जाना है। रात को देर से सोते हो और प्रातः देर से उठते हो तो तीन बजे से पहिले नींद कैसे खुले ? फिर भी आप दृढ़ निश्चय कर लें कि मुझे दो-ढाई बजे उठकर तीन बजे जाने वाली गाड़ी अवश्य पकड़नी है तो आपकी आँखें उस समय अवश्य खुल जायँगी यह बात दूसरी है कि आप आलस्य में पड़े रहें और उसके कारण गाड़ी निकल जाय।

किसी विद्यार्थी को अपना पाठ याद करके दूसरे दिन सुनाना है और वह दृढ़ निश्चय पूर्वक उसे याद करता हुआ सोता है तो वह स्वप्न में भी उस पाठ को पढ़ता रटता रहेगा। अपने दृढ़ संकल्प के कारण उसे अवश्य ही वह पाठ याद हो जायगा।

यदि आप बीड़ी-सिगरेट पीते हैं या अफीम आदि का नशा करते हैं और उसे छोड़ना चाहते हैं तो उसके लिए भी दृढ़ सङ्कल्प की आवश्यकता होती है। यदि आप उन्हें छोड़ने का पक्का निश्चय कर लें तो अवश्य सफलता मिलेगी। हम ऐसे कई व्यक्तियों को जानते हैं, जो बीड़ी बहुत पीते थे, किन्तु दृढ़ संकल्प के बल पर उसे छोड़ने में सफल हो गये।

यदि कुविचारों को भी छोड़ने का संकल्प ले लिया जाय तो अवश्य ही उन्हें छोड़ा जा सकता है, केवल दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है। इस प्रकार संकल्प शक्ति के बल पर मन को सहज ही वश में किया जा सकता है।

परन्तु संकल्प दृढ़ कैसे हो? मनुष्य चाहता है कि अमुक कार्य सम्पन्न हो, किन्तु संकल्प में दृढ़ता नहीं होती तो कार्य की सम्पन्नता सन्देहास्पद ही होगी। यदि हमें मन को वश में करना है तो अपनी संकल्पशक्ति को दृढ़ करने की दिशा में प्रयत्नशील होना चाहिये।

———

मानसिक स्थिरता के लिए विभिन्न साधन

मन को संयमित बनाने के लिए बहुत से उपाय हो सकते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि साधन कौन-सा सरल है ? कठिन साधनों का निर्वाह सभी तो कर नहीं सकते। इसलिए उन उपायों को करना चाहिये, जो सहज में ही हो सकें।

इसमें सर्व प्रथम उपाय तो चरित्र-निर्माण है। यदि चरित्र की ओर ध्यान न दिया जाय तो वह उत्तरोत्तर बिगड़ता जायगा। क्योंकि मन तो चरित्र के साथ चलता है। यदि मन उच्छृंखल भी हो तो होने दो उसे। तुम अपना चरित्र सुधारो और फिर देखो कि मन तुम्हारा साथ देता है या नहीं ?

योगाचार्यों ने इसीलिये सर्वप्रथम चरित्र-निर्माण पर ही ध्यान दिया है। अष्टांग योग के प्रथम दो अङ्ग—यम, नियम साधक को चरित्र-निर्माण की ओर ही प्रेरित करते हैं। दस यम हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, अल्पभोजन और बाह्याभ्यन्तर की पवित्रता। दस ही नियम हैं—तप, सन्तोष, दान, आस्तिकता, लज्जा, सुमति, जप, व्रत, ईश्वर-पूजन और सिद्धान्त श्रवण।

अन्य मत से दस प्रकार के यम हैं—शीत, उष्णता, आहार और निद्रा पर विजय, सदैव शान्ति, निश्चलता, इन्द्रियों पर नियन्त्रण यह आठ और सत्य, अहिंसा मिलाकर दस हुए। गुरुभक्ति, सत्यमार्ग से प्रेम,

जो स्वतः प्राप्त हो उसी में सन्तोष, अनासक्ति एकान्तवास, मन पर अंकुश, फल की कामना न करना और वैराग्य-यह नियम हैं।

ध्यान दीजिये इन यम-नियमों पर, इनके पालन से बढ़कर और कौन-सा चरित्र-निर्माण हो सकता है ? योगियों को योग की शिक्षा में सबसे पहिले यही सीखना होता है। इससे चरित्र-निर्माण का महत्व शीघ्र ही समझ में आ जाता है।

चरित्र-निर्माण के साथ ज्ञान की भी आवश्यकता है। ज्ञान के बिना ईश्वर और धर्म-विषयक बातें ठीक प्रकार से समझ में नहीं आ सकतीं। अज्ञानी मनुष्य किसी भी विषय के यथार्थ रूप में ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं।

किन्तु ज्ञान है क्या वस्तु ? वस्तुतः किसी भी वस्तु को यथार्थ रूप में जान लेना ही ज्ञान है। जिस वस्तु का ठीक से ज्ञान न हो, उसे भ्रान्ति कहते हैं। जैसे अँधेरे में सर्प का रस्सी या रस्सी का सर्प होने का भ्रम अथवा सीप का चाँदी होने विषयक भ्रम।

ज्ञान के दो मुख्य भेद माने जाते हैं—(१) भौतिक और (२) आध्यात्मिक। भौतिक वह है पंच महाभूत (पृथिवी, आकाश, जल, अग्नि, वायु) के पंचीकरण से बना है। इसे पंचभूतात्मक भी कहते हैं। संसार की सभी वस्तुएं, यहाँ तक कि शरीर भी भौतिक ही हैं। पाश्चात्यजन इसी भौतिकवाद को मेटेरिअलिज्म कहते हैं। इससे सम्बन्धित जानकारी ही भौतिक ज्ञान है।

आध्यात्मिक ज्ञान भौतिक वस्तुओं से परे जो चेतन तत्व है, उसी से सम्बन्धित होता है। दूसरे शब्दों में जो आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान है, वही आध्यात्मिक है। इसी अध्यात्मवाद को पाश्चात्य लोग स्पिरिच्युलिज्म कहते हैं।

यह दोनों ही ज्ञान ज्ञातव्य हैं। इन दोनों को जानकर ही निश्चय किया जा सकता है कि नाशवान क्या है और अविनाशी क्या है ? जब

तक ऐसा ज्ञान उत्पन्न नहीं हो जाता, तब तक मनुष्य देहाध्यास में पडा रहता है और जब तक देहाध्यास रहेगा, तब तक न तो चरित्र-निर्माण ही हो पायेगा और न मन ही काबू में किया जा सकेगा।

एक उपाय और भी है—ध्यान। योगियों ने भी इसका महत्व स्वीकार किया है। योग की आठ सीढ़ियों में ध्यान सातवीं सीढ़ी पर है अर्थात् योगी छः सीढ़ियों से आगे बढ़कर ही ध्यान की सीढ़ी पर पहुँच सकता है। महर्षि पतंजलि अपने योग दर्शन में 'तत्र प्रत्ययैकता ध्यानम्' कहकर इसका स्वरूप बताते हैं कि 'मन को जहाँ ठहराया जाय, उसी में वृत्ति सदैव समान रूप से स्थिर रहना ध्यान है।'

ध्यान के तीन भेद

महर्षि घेरण्ड ने ध्यान के तीन भेद किये हैं—स्थूल ध्यान, ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्म ध्यान। जिसमें इष्टदेव के आकार (रूप, मूर्ति आदि) का ध्यान किया जाय, वह स्थूल ध्यान है। जिसमें तेजोमय ज्योतिस्वरूप ब्रह्म का ध्यान हो वह ज्योतिर्ध्यान तथा बिन्दुमय कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान किया जाय वह सूक्ष्म ध्यान होता है।

स्थूल ध्यान का आरम्भ इष्टदेव की प्रतिमा पर दृष्टि लगाकर उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का सौन्दर्य और वस्त्रालंकार आदि की शोभा को हृदय में धारण करने के अभ्यास से हो सकता है। वस्तुतः स्थूल ध्यान का यह आरम्भिक रूप त्राटक-साधना ही है, जिसका अभ्यास दृढ़ होने पर दिव्य ज्योति तक प्राप्त हो सकती है तथा मन संयत होने लगता है।

ज्योतिर्मय ध्यान के विषय में घेरण्ड संहिताकार का कथन है कि 'भौंओं के मध्य में तथा मन के ऊर्ध्वभाग में जो प्रणवात्मक ज्योति विद्यमान है, उस ज्वालावलीयुक्त ज्योति का ध्यान ही ज्योतिर्ध्यान है।'

यद्यपि यह ध्यान नेत्र बन्द करके किया जाना चाहिये, तथापि आरम्भिक अभ्यासियों के लिए वही क्रिया सरल रह सकती है, जिसमें

किसी प्रकार से बाधा उपस्थित न हो। इसके लिये कुछ अनुभवी पुरुष दीपक की लो पर दृष्टि ठहराने से अभ्यास का आरम्भ कराते हैं, जो कि त्राटक-योग की ही एक विधि है। जब इस प्रकार का अभ्यास दृढ़ हो जाता है, तब नेत्र बन्द करके दृष्टि को भौंहों के मध्य स्थिर करने का अभ्यास किया जाय तो सफलता शीघ्र मिलती है।

इन दोनों प्रकार के ध्यानों (स्थूल और ज्योति) के आरम्भिक अभ्यास में ही साधक मन की एकाग्रता और मानसिक शान्ति का अनुभव करने लगता है। जब वह ध्यान के दूसरे चरण में पहुँचता है, तब तक तो उसका मन पूर्ण रूप से वश में हो चुका होता है।

घेरण्ड ऋषि के अनुसार सूक्ष्म ध्यान वह है, जिसमें कुण्डलिनी शक्ति का चिन्तन किया जाय। किन्तु अन्य विद्वान् निर्गुण, निराकार ब्रह्म के ध्यान को ही सूक्ष्म ध्यान मानते हैं। यह स्थिति तभी आ सकती है जब साधक स्थूल और ज्योतिर्मय ध्यान के अभ्यास से निपुणता प्राप्त कर ले। यही ध्यान, ध्यान की सर्वोच्च भूमिका उपस्थित करता है। उसी के सिद्ध होने पर योगी समाधि-अवस्था में पहुँच सकता है। महर्षि पतंजलि ने योग-दर्शन में समाधि का रूप इस प्रकार निरुपित किया है—

तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

अर्थात्—जब चित्त का अपना स्वरूप शून्य हो जाता है और केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है, तब वही (ध्यान ही) समाधि कहलाता है।

वस्तुतः ध्यान चित्त की वह वृत्ति है, जिसके द्वारा विषय वस्तु का ध्यान होता है। ध्यान के समय योगी को यह बोध रहता है कि मैं ध्येय का ध्यान कर रहा हूँ अर्थात् उस समय तक धातृ, ध्येय और ध्यान

तीनों का पृथक्-पृथक् भान रहता हैं। किन्तु ध्यान करते-करते धातृ (ध्यान करने वाला) चित्त ध्येय रूप में बदल जाता है और साधक को यह बोध नहीं रहता कि मैं ध्यान कर रहा हूँ। वह अवस्था ही समाधि है।

ध्यान योग रूप का एक त्राटक

यह समाधि का रूप हुआ। आरम्भिक अभ्यास वाले साधक भी बहुत बार इसका अनुभव करने लगते हैं। एक सिद्ध योगी, जो त्राटक के अभ्यास से ही सिद्ध पुरुष हुए थे, उन्होंने एक बार भेंट होने पर बताया कि 'त्राटक योग के द्वारा कौन-सी सिद्धि नहीं पाई जा सकती ? जो लोग भोग चाहें वे उन सिद्धियों के बल पर भक्तों को अपनी ओर प्रभावित करके अपनी कामना पूर्ति कर सकते हैं। जो लोग आत्मिक उन्नति और मोक्ष की इच्छा रखते हों, वे सिद्धियों की उपेक्षा करके साधना को ओर बढ़ाते रह सकते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें समाधि अवस्था की सहज में ही प्राप्ति हो सकती है।'

पूछे जाने पर उन्होंने शङ्का का निवारण किया—'त्राटक योग वस्तुतः ध्यान योग ही है। अष्टांग योग में भी ध्यान से ऊपर समाधि ही है, वही योग की सर्वोच्च स्थिति है। त्राटक की सिद्धि के बाद भी उसकी अन्तिम भूमिका समाधि ही है। इसलिये जो लोग त्राटक का अभ्यास करते हैं, उन्हें किसी अन्य प्रकार की योग-साधना अपेक्षित नहीं है।

त्राटक योग मानसिक शान्ति का भी सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इसके द्वारा मन की चंचलता सहज में ही दूर हो जाती है। जो लोग अपने जीवन को सुखमय तथा शान्तिमय बनाना चाहते हैं, उन्हें इसी साधना का आश्रय लेना चाहिए।'

उक्त त्राटक सिद्ध योगिराज के अनुभवों से यह अनुमान करना सहज है कि मानसिक शान्ति के उपायों में त्राटक-साधना बहुत उपयोगी है। क्योंकि त्राटक योग के अभ्यास काल में सदा सद्विचार ही उत्पन्न होते है।

और यह पहिले भी बताया जा चुका है कि सद्विचारों के द्वारा ही चरित्र-निर्माण हो सकता है। सद्विचारों के द्वारा ही मन की सांसारिक भोगों के प्रति आसक्ति दूर हो सकती है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'यह भी कठिन है, कोई ऐसा उपाय हो जो बहुत सरल हो' तो इसके उत्तर में यह कहना होगा कि यदि कुछ चाहते हो तो पहिले कुछ खोना होगा। कठिन कुछ भी नहीं है : यदि करना चाहो और यह चाहो कि कुछ करना ही न पड़े तो बिना कुछ किये तो भोजन भी नहीं खा सकते। भोजन की थाली आगे रखकर देख लो, यदि कौर हाथ से उठाये बिना मुख में पहुँच जाय तो हम से आई।

संसार में सर्वत्र रत्नों के भण्डार भरे पड़े हैं। सोना, चाँदी, ताँबा, सीसा, प्लेटिनम आदि की खानें तथा हीरा, जवाहरात सभी कुछ उपलब्ध है इस वसुन्धरा पर, परन्तु बिना परिश्रम के न उन्हें खोजा जा सकता है, न निकाला जा सकता है। यदि निकाला जा सकता होता तो खानों की खुदाई और प्राप्त धातुओं की सफाई आदि पर इतना अधिक व्यय क्यों होता ?

इसलिये यदि इस जीवन को सुखमय बनाना है तो पहिले प्रमाद का त्याग करो। क्योंकि प्रमाद मनुष्य की क्रियाशीलता का नाश कर

देता है। प्रमाद के कारण निष्क्रिय हुआ मनुष्य अपने मन को कभी स्थिर नहीं रख सकता। क्योंकि जब मनुष्य निठल्ला बैठा है तो मन खाली रहेगा और तब उसे कुछ न कुछ ऊटपटांग बातें सूझती रहेंगी।

प्रमाद को छोड़ो, आलस्य को अपना परम शत्रु समझ कर उसका बहिष्कार करो और सुविचारों के द्वारा मन को श्रेष्ठ शुभ कर्मों की ओर प्रेरित करो, बस जीवन सफल हो जायगा।

मन-सत्व, रज और तम का सम्मिश्रण मात्र है

मनोयोग के बिना अनुभूतियाँ भी असम्भव

मनोयोग के बिना कोई कार्य हो सकता। कुछ देखना है तो उसमें मन लगाना होगा, यदि मन लगेगा तो दृश्य देखा ही न जा सकेगा। सुनने में भी मन का योग अपेक्षित है, क्योंकि मनोयोग के बिना सुन भी नहीं सकते। छान्दोग्य-उपनिषद् का स्पष्ट कथन है कि "मनोयोग से ही सब कार्य पूरे होते हैं, यदि मन अन्यत्र हो तो प्रत्यक्ष दिखाई देता हुआ भी नहीं देखा जाता और न कान ही सुन पाते हैं। कामना, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा बुद्धि और भय—यह सभी मन के स्वरूप हैं। यही कारण है कि पीठ की ओर से स्पर्श किये जाने पर भी मन उसे जान लेता है।"

इससे, इस ज्ञान में शंका नहीं रहती कि संकार के समस्त कार्य मनोयोग के बिना असम्भव हैं। यदि मन का योग न हो तो किसी भी प्रकार की अनुभूति नहीं हो सकती। इस प्रकार समस्त शरीर मन के द्वारा ही गतिशील रह सकता है। मन के आदेश पर ही उठ-बैठ सकता है, खाना-पीना भी मन की प्रेरणा से ही सम्भव है, सोने-जागने में भी मन का ही बहुत कुछ योगदान रहता है। कोई भी शारीरिक क्रिया ऐसी नहीं, जो मन के द्वारा संचालित न होती हो।

ज्ञान-अज्ञान का कारण भी मन है। मन हो तो अध्ययन नहीं किया जा सकता, मन न हो तो मैथुनादि कर्म में भी बाधा उपस्थित होजाती है। मनन में किसी प्रकार से भी विकार उत्पन्न हुआ कि हर्ष गायब। इस सब का कारण यहां है कि मन में अपार शक्ति विद्यमान है और यह आत्मा के सब से अधिक समीप है।

यद्यपि मन का निर्माण सूक्ष्म जड़ परमाणुओं से हुआ है, तो भी उसमें स्वयं की कोई चेतना नहीं है। वह आत्मा का आन्मरिक यन्त्र होने के कारण अन्तःकरण भी कहलाता है। बोध स्वरूप आत्मा उसे चेतना या प्रकाश प्राप्त कराती है। उसी से सब कुछ प्रकाशित करने में वह समर्थ हो पाता है।

और आत्मा द्वारा प्राप्त चेतना के कारण ही वह इतना सबल और समक्ष होगया है कि स्वयं को भी देखने में समर्थ है। यदि मन की सहायता न मिले तो हम मन के विषय में कुछ भी नहीं जान सकते। मन ही मन की बात बताने मेंसहायक और सहयोगी रहता है।

त्रिगुणात्मक मन

मन में चंचलता क्यों रहती है? यह प्रश्न भी समाधान के योग्य है। इसका उत्तर प्राप्त करने लिए यह जानना आवश्यक होगा कि मन का निर्माण किन तत्वों से हुआ है? उसके उपादान कौन-कौन से हैं?

आचार्यों ने इसके तीन उपादान कारण स्वीकार किये हैं—सत्व, रज और तम। इन तीनों को गुण की संज्ञा दी जाती है। मन इन्हीं तीन गुणों का सम्श्रिण मात्र है।

वस्तुतः समस्त संसार ही इन तीन गुणों के सम्मिश्रण से दृश्यमान हुआ है। समस्त भौतिक सम्पत्ति और क्रियाएँ इन्हीं तीन गुणों की परिणाम हैं। इन गुणों का विवेचन विद्यारण्य स्वामी ने पंचदशी (२।१४-१६) में निम्न प्रकार किया हैं—

वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः सत्वसम्भवाः।
कामक्रोधौ लोभयत्नावित्वाद्या रजसोत्थिताः॥
आलस्य भ्रान्ति तन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः।
सात्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः॥
तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुः क्षपणं भवेत्॥

अर्थात्—वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि गुणों की उत्पत्ति सतोगुण से हुई है। काम, क्रोध, लोभ, प्रयत्न आदि की उत्पत्ति रजोगुण से तथा आलस्य, भ्रान्ति और तन्द्रा आदि विकारों की उत्पत्ति तमोगुण से होती है। सतोगुण युक्त कार्यों से पुण्य की, और रजोगुणी कार्यों से पाप की उत्पत्ति होती है। तमोगुणी कार्यों से पुण्य या पाप दोनों में से किसी भी प्रकार के कार्य नहीं हो पाते, वरन् व्यर्थ ही आयु नष्ट होती रहती है।

उक्त उद्धरण यह बताते हैं कि मन जब सतोगुण की अधिकता से युक्त होता है तब उसकी आवृत्ति पुण्य कर्मों की ओर होती है और उस समय उसमें विषयों के प्रति विमुखता तथा दूसरों के प्रति उदारता, क्षमा भाव आदि की विद्यमानता रहती है। सतोगुण के प्रभाव से वह शुभ कर्मों की ओर ही प्रेरित रहता है, अशुभ कर्मों की ओर बिल्कुल भी नहीं जाता।

किन्तु जब उसमें रजोगुण की अधिकता होजाती है तब वह सांसारिक विषयों की ओर उन्मुख होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, ईर्ष्या, द्वेष आदि की अधिकता रहती है और उस स्थिति में वह किसी प्रकार का पाप कर्म करने से पीछे नहीं हटता।

मन जब तमोगुण से युक्त होता है तब उसमें आलस्य, भ्रान्ति, तन्द्रा, मूढ़ भाव (मोहितावस्था) आदि की विद्यमानता रहती है। उस अवस्था में वह पाप-पुण्य विषयक सभी कार्यों से अनभिज्ञ रहता है। न तो आत्मोत्थान का प्रयत्न करता है, न पतन के विषय में ही कुछ ज्ञान रखता है। इस प्रकार तमावृत्त मन शरीर को निष्क्रिय बना देता है।

इस प्रकार सतोगुण उसे अत्यन्त श्रेष्ठ स्थिति में रखता है तो रजोगुण में मन की शक्तियाँ बिखर जाती हैं। तमोगुण के कारण वह भ्रम, प्रमाद और निष्क्रियता का भागी होता है। इससे स्पष्ट है कि मन की स्थिरता तब सम्भव है जब उसमें सतोगुण का समावेश रहे। जो साधक सतोगुण सम्पन्न होते हैं और उनका आचरण सतोगुणी रहता है, उनका मन सहज में ही उनके वश में रहता है।

किन्तु मन की चंचलता का मुख्य कारण रजागुण ही है। जिनकी प्रवृत्ति काम-वासना, वैभव धन, प्रतिष्ठा आदि के कार्यों में होती है, उनका मन स्थिर नहीं होपाता। ऐसे मनुष्य क्रोधादि के कारण अपना मानसिक सन्तुलन खोकर कभी-कभी हिंसात्मक कार्य भी कर बैठते हैं। संसार में होने वाली हिंसा, डकैती, चोरी, बलात्कार आदि की घटनाएँ रजोगुणी प्रवृत्ति के ही परिणाम हैं। इनमें मनुष्य के मन में सतोगुण का अत्यल्प अंश और रजोगुण तथा तमोगुण के अधिक अंश रहते हैं।

विश्व निर्माण का कारण मन

वेदान्त की मान्यता है कि शुद्ध सत्व पानी के समान स्वच्छ है, किन्तु जब उसका संयोग रजोगुण से होता है तब वही (सतोगुण में विद्यमान आत्मतत्व जब प्रतिबिम्बित होता है, तब समस्त जड़ संसार को सूर्य के समान प्रकाशित कर देता है। जब सत्व अन्य गुणों से सम्मिश्रित होता है तब उसमें यम, नियम, श्रद्धा, भक्ति, दैवी सम्पत्ति, मोक्ष की इच्छा, अभिमान रहितता तथा असत् से निवृत्ति होजाती है।

यह तो रहे मिश्रित सत्व के धर्म, अब विशुद्ध सत्व के धर्म कहते हैं। यह धर्म हैं—तृप्ति, स्वात्मानुभूति, मनःप्रसाद, परम शान्ति, परम आत्मनिष्ठा और परम आनन्द। इस स्थिति को प्राप्त हुआ मन साधक को सदा ही परम आनन्द का अधिकारी बनाये रहता है।

परन्तु यह तीनों गुण भी जड़ हैं। चेतन न होने के कारण आत्मा से इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। परमात्म निर्गुण है तो उसका अंशभूत आत्मा ही सगुण कैसे हो सकता है। इस प्रकार यह तीनों गुण प्रकृति के ही समझने चाहिये। जो साधक परम सुख शान्ति चाहते हैं उन्हें रजोगुण और तमोगुण से मुक्त होना चाहिए। इसका उपाय बताते हुए भागवत में भगवान् स्वयं कहते हैं—

सत्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्वं सत्वेन चैव हि।

अर्थात् सतोगुण की वृद्धि के द्वारा रजोगुण और तमोगुण को नष्ट करना चाहिए। फिर सतोगुण के द्वारा ही सतोगुण की वृत्तियों (दया, क्षमा आदि) को भी शान्त कर लेना चाहिए।

संसार में शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार के कर्म और उनके दो ही प्रकार के फल-भोग मानते हैं। शुभ कर्मों के फल रूप में सुःख की और अशुभ कर्मों के फल रूप में दुःख की प्राप्ति होती है। जब तक इन कर्मों का भोग नहीं हो पाता तब तक यह संचित होते रहते हैं और भोग के लिये ही जन्म-मरण में कारण बने रहते हैं।

चाहे शुभ कर्म हों या अशुभ, उनका फल भोगना अनिवार्य है। अशुभ कर्म न किये हों तो भी शुभ कर्मों का फल भोगने के लिये जन्म-मरण के बन्धन में रहना ही होगा।

इसीलिये आवश्यक है कि समस्त शुभ-अशुभ कर्मों के फल का क्षय किया जाता रहे। सतोगुण की वृद्धि के लिये किये जाने वाले प्रयत्न से रजोगुण और तमोगुण के कार्यों से तो बचा ही जा सकता है, साथ ही शुभ कर्मों के फल-भोग को भी निःशेष किया जा सकता है। इसी उद्देश्य से भगवान ने 'सत्वेनान्यतमौ हन्यात्' आदि का उपदेश दिया है, जिसका तात्पर्य यही है कि शुभ-अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों का क्षय किया जाना चाहिये, क्योंकि ऐसा होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। भगवान् स्वयं निर्देश देते हैं—

सत्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः।
सात्विकोपासया सत्वं ततो धर्मः प्रवर्तते॥
धर्मो रजस्तमो हन्यात् सत्ववृद्धिरनुत्तमः।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते॥

—भागवत ११।१३।२-३

अर्थात्—सतोगुण की वृद्धि होने पर ही प्राणी को मेरे भक्ति रूप धर्म की प्राप्ति सम्भव होती है। निरन्तर सात्विक पदार्थों का सेवन करते रहने से ही सतोगुण की वृद्धि होती रहती है और धर्म में प्रवृत्ति होती है। जिस धर्म से रजोगुण का नाश हो, उसी सतोगुण की वृद्धि

श्रेष्ठ है। क्योंकि जब रजोगुण और तमोगुण दोनों नष्ट होजाते हैं, तब उनसे उत्पन्न होने वाले अधर्म का भी विनाश हो जाता है।

प्रश्न उठ सकता है कि सतोगुण की वृद्धि करने वाले वे पदार्थ कौन से हैं, जिनका निरन्तर सेवन किया जाता रहे? इस विषय में गीता कहती है—

आयुः सत्वबलारोग्य सुख प्रीति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विक प्रियाः॥

अर्थात्—जो आयु, सत्व, बल, आरोग्य, सुख तथा रुचि की वृद्धि करें, वे रसमय, स्निग्ध, पौष्टिक और हृद्य तथा मन को प्रिय लगने वाले आहार सात्विक होते हैं।

वस्तुतः शरीर और मन दोनों पर ही आहार का अत्यन्त प्रभाव पड़ता है। रजोगुणी और तमोगुणी आहार मनुष्य की बुद्धि को स्थिर नहीं रहने देते। गीता में कटु, तिक्त, खट्टे, लवणयुक्त, अधिक उष्ण, रूक्ष तथा दाहकारी पदार्थों को रजोगुण युक्त माना है। इनके सेवन से मन में दुःख, चिन्तादि की तथा शरीर में रोगों की उत्पत्ति होती है।

अर्द्धपक्व, रस-हीन, दुर्गन्धित, बासी, उच्छिष्ट और अपवित्र पदार्थ तामसिक होते हैं। यह अत्यन्त निकृष्ट और पूर्णरूप से त्याज्य समझने चाहिए।

अवगुणों को दबाने और श्रेष्ठ (सत्व) गुण को बढ़ाने के लिये भागवत में निम्न उपाय कहे गये हैं—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुण हेतवः॥

अर्थात्—शास्त्र, जल, प्रजानन, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान,

मन्त्र और संस्कार—यह दस, श्रेष्ठ गुणों की वृद्धि में (मुख्य) कारण होते हैं।

इनकी क्रमशः जितनी ही अधिक वृद्धि होती जाती है, उतनी शुद्ध सात्विकता आती जाती है। इसमें सर्व प्रथम शास्त्रों का अध्ययन है। किन्तु शास्त्र भी अनेक हैं और उनमें मत-वैभिन्न भी पाया जाता है। शास्त्रकारों ने अपने-अपने मत के अनुसार ही ईश्वर, धर्म, प्रकृति, जीव, संसार, कर्त्तव्य कर्म आदि का विवेचन किया है। उनका अध्ययन मनुष्यों को भ्रान्ति और वितण्डावाद में डाल देता है। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि विवेक बुद्धि से निश्चय किया जाय कि कौन-सा शास्त्र यथार्थ रूप में ईश्वर एवं धर्मादि का निरूपण करता है। शास्त्र के चयन में सद्गुरु की सहायता अधिक उपयुक्त रहती है। क्योंकि गुरु के द्वारा जिस ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, वही अधिक कल्याणकारी होता है। इसीलिये भारतवर्ष से गुरु दीक्षा को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्वीकार किया जाता है।

देश, काल, और जल का शरीर और मन दोनों पर ही बड़ा प्रभाव पड़ता है। पुण्य देश में रहने से मन में पवित्रता आती है। वहाँ का जल भी स्वच्छ तथा पवित्र होगा। उसका सेवन और अन्यान्य कार्यों में उपयोग सभी प्रकार से हितकर हो सकता है। क्योंकि मानव शरीर में सब से अधिक जलीय अंश ही होता है। यदि अस्वच्छ, अपवित्र जल उपभोग या उपयोग में आये तो उसके फल स्वरूप शरीर में रोग उत्पन्न हो सकते हैं, जिसके कारण मन में भी अशान्ति उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

काल का अभिप्राय समय से है। यदि साधना ठीक समय से आरम्भ और पूर्ण की जाती रहे तो सभी कार्यों में सुविधा रह सकती है। कोई भी कार्य हो, उसमें समय का ध्यान अवश्य रहना चाहिए। समय बहुत

मूल्यवान है, उसका एक-एक क्षण महत्वपूर्ण होता है। व्यर्थ समय नष्ट करना बहुत ही हानि का कारण हो सकता है।

ज्योतिष के अनुसार कार्यों का आरम्भ शुभ समय में करना चाहिए। उसमें ग्रहों और नक्षत्रों की अनुकूलता पर विशेष ध्यान दिया जाता है। शुभ मुहूर्त में किये जाने वाले कार्य सदैव शुभ फल के देने वाले होते हैं।

प्रजानन का अभिप्राय नागरिकों से है। श्रेष्ठ नागरिकों के साथ रहना चाहिए। जहाँ निवास करें, वहाँ पड़ौस अच्छा हो। बुरा पड़ौस सदैव दुःखदायक और हानिकर होता है। यदि घर-कुटुम्ब के मनुष्य भी दुष्ट स्वभाव के हों तो उनके भी सम्पर्क से बहुत कुछ बचने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि साथ का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता और बुरे स्वभाव के पड़ौसी या स्वजन भी श्रेष्ठ गुणों की वृद्धि में बाधक हो सकते हैं।

जन्म अच्छे परिवार में हो तो मनुष्य सहज ही श्रेष्ठ गुण वाला हो सकता है। यदि जन्म अच्छे परिवार में न हुआ हो तो भी यदि अच्छे वातावरण में भरण-पोषण और जीवन-यापन होने पर गुण-कर्म, स्वभाव में परिवर्तन हो सकता है।

कर्म का भी कम महत्व नहीं है। श्रेय की अभिलाषा वालों को सदा शुभ कर्म करने चाहिए। क्योंकि शुभ कर्मों में सात्विकता होती है, जबकि अशुभ कर्म रजोगुण-तमोगुण से युक्त तथा पतनावस्था को प्राप्त करने वाले हो सकते हैं।

ध्यान के दो भेद हैं—(१) मनोयोग और (२) साधनात्मक। मनोयोग वाला ध्यान वह है, जिसकी आवश्यकता सभी कार्यों में होती है। कोई भी कार्य यदि ध्यान से न किया जाय तो वह ठीक प्रकार से कभी भी सम्पन्न नहीं हो सकता और असफलता का कारण होता है।

साधनात्मक ध्यान का अभिप्राय ध्येय के प्रति तन्मयता होने से है। योग-साधनों में ध्यान का बड़ा महत्व है। भक्ति भी ध्यान के बिना नहीं हो सकती। जप, तप, पूजन, पाठ आदि सभी कर्मों में ध्यान एक आवश्यक और प्रमुख प्रक्रिया है।

मन्त्र के बिना समस्त निगमागम शास्त्र भी व्यर्थ हैं। मन्त्र ही शास्त्रों में आत्मा रूप से विद्यमान हैं। समस्त पूजन-क्रियाओं, जप-अनुष्ठानों, पाठों आदि में मन्त्र का ही महत्व है। मन्त्र के माध्यम से सिद्ध हुई साधना महान् फल के देने वाली होती है।

संचित संस्कारों का प्रभाव

संस्कार कृत कर्मों के फल रूप में संचित रहते हैं। मनुष्य के स्वभाव, क्रिया, गति आदि में संस्कारों का प्रमुख रूप से प्रभाव रहता है। यदि मनुष्य शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त हो तो वह कुसंस्कारों को दूर करने में सफल हो सकता है।

इस प्रकार मनुष्य जीवन में इन दस गुणों का अत्यन्त महत्व है। जो लोग इनके प्रति ध्यान देते हैं, वे अपने जीवन में, सभी क्षेत्रों में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

जीवात्मा प्रकृति से भिन्न, चेतन तथा अविनाशी है। वह सर्वत्र गतिशील होने के कारण सर्व व्यापक कहलाता है। उसे शरीर के बन्धन में कर्मादि के फल स्वरूप पड़ना होता है। संस्कार उसकी लौकिक गतिविधियों में कारण होते हैं। श्रेष्ठ या निकृष्ट परिवार में जन्मादि फल में भी कृत कर्म ही उत्तरदायी हैं। यदि यह कहें कि मनुष्य अपने को सुखी या दुःखी बनाने वाला स्वयं ही है तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी।

जीवात्मा को शरीर रूप कारागार में डालने में प्रमुख कारण तीन गुण ही हैं—सत्व, रज और तम। यह नहीं समझना चाहिए कि

प्राणी को रजोगुण और तमोगुण ही अवनत दशा में रखते हैं, सतोगुण भी उसके बन्धन में एक कारण हो सकता है। गीता में भगवान् स्वयं कहते हैं—

तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुख संगेन बध्नाति ज्ञान संगेन चानघ॥

अर्थात्—हे निष्पाप! उन तीन गुणों में भी स्वच्छ, प्रकाश करने वाला और विकार रहित सतोगुण भी जीवात्मा को सुख की और ज्ञान की आसक्ति से बाँधे रखता है।

मनुष्य सुख-प्राप्ति की इच्छा से शुभ सात्विक कर्मों को करता है और उस स्थिति में यदि उसे ज्ञान का अभिमान हो जाता है तो भी कर्मों के बन्धन में पड़े बिना नहीं रह सकता। अभिप्राय यह है कि आसक्ति कैसी भी शुभ क्यों न हो, वह भी मनुष्य के मोक्ष-मार्ग में बाधक हो सकती है।

इसलिए जहाँ रजोगुण और सतोगुण की अधिकता द्वारा तमोगुण का नाश कर दिया जाय, वहाँ रजोगुण के नाश में अकेला सतोगुण ही समर्थ है। किन्तु सतोगुण के शेष रहने पर भी मनुष्य को सुख की कामना नहीं करनी चाहिये। क्योंकि कामना सदा ही बन्धन का कारण होती है।

जब सात्विक प्रवृत्ति जाग्रत् होती या बढ़ती है तब मनुष्य आत्म-लाभ के उद्देश्य से ज्ञान-प्राप्ति के उपाय में लगता है। किन्तु ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी मन को सहयोग अनिवार्य है। बिना उसके ज्ञान मिलना ही असम्भव है।

आत्मा के उत्थानार्थ किये जाने वाले कर्मों को मुख्य रूप से तीन भेदों में विभाजित कर सकते हैं—उपासना, क्रिया और ज्ञान। क्रमशः यह तीनों इच्छा, क्रिया और शक्तियाँ ही हैं, जिनका निवास मन में सदैव रहता है।

इच्छा शक्ति का जागरण प्राणी को स्फूर्तिवान बना देता है तभी वह कुछ करने में प्रवृत्त हो पाता है। इच्छा से ही जप, तप योग, भक्ति, पूजन, भजन आदि की ओर झुकाव हो सकता है। यह इच्छा मन से ही उत्पन्न होती है, आत्मा से नहीं। क्योंकि आत्मा में प्रवृत्तियों का अभाव है।

क्रियाशक्ति को भी मन ही उत्पन्न करता है। इच्छा जाग्रत होने पर भी यदि क्रिया के लिए मन न हुआ तो कार्य करना ही असम्भव होगा। इसी प्रकार ज्ञान शक्ति के विषय में समझिये। कोई भी कार्य अज्ञान रहने तक नहीं किया जा सकता।

सभी शास्त्रों में जो मन्त्र विद्यमान हैं, वे इन तीन शक्तियों पर ही निर्भर हैं। मन्त्रों का उद्देश्य इनसे भिन्न नहीं है और मन उनके उद्देश्य पूर्ण करने में बहुत कुछ सहायक होता है।

किन्तु मन्त्रों के भी सत्वादि गुणों के भेद से तीन ही प्रकार हैं। जो लोग आत्मलाभ की दृष्टि से उपासना करना चाहते हो. उनके लिए सत्वगुण सम्पन्न मन्त्र ही हितकर होते हैं। रजोगुणी या तमोगुणी उपासना उनके लिए अभीष्ट नहीं हो सकती।

मन को प्रकारान्तर से सप्त होताओं के यज्ञ का कर्त्ता भी कहा जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में एक वृत्तान्त मिलता है कि जब सृष्टि में समस्त देहों का निर्माण हो चुका तब संसार में ऋषियों और योगियों के सूक्ष्म शरीर आविर्भूत हुए। उन्होंने ईश्वर द्वारा निर्मित सभी शरीरों को देखकर मनुष्य शरीर ही पसन्द किया और उसी में उन्होंने अपना निवास निश्चित किया। उसी समय से मनुष्यों की ऋषि संज्ञा हुई। क्योंकि मनुष्य शरीर मे पंच ज्ञानेन्द्रिय (नेत्र, नासा, श्रोत्र, वाक् और त्वचा), बुद्धि और मन मिलकर सप्त ऋषि हुए। इस प्रकार मन ही इस जीवन यज्ञ का कर्त्ता सिद्ध होता है।

यद्यपि उक्त सभी इन्द्रियाँ आत्मा के साधन रूप से कार्यरत रहती हैं, किन्तु मन की प्रेरणा के बिना इनमें से कोई भी इन्द्रिय, कुछ भी कार्य नहीं कर सकती। इन्द्रियाँ स्थूल हैं और मन सूक्ष्म, उसका इन्द्रिय से कोई मेल नहीं है। शरीर में आत्मा के पश्चात् यदि कोई दूसरा अधिकारी है भी, तो वह मन ही हो सकता है।

त्रिकाल का कारण मन

मन ही भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल का कारण है। मन के बिना न तो अतीत कटा, न वर्तमान कटता है और न भविष्य ही बनेगा। जिसने अतीत पर ध्यान नहीं दिया और वर्तमान के प्रति भी उपेक्षा करता है, वह अपने भविष्य को भी कैसे सँभाल सकता है?

किसी भी कार्य के करने में आत्म विश्वास की बड़ी आवश्यकता होती है। आत्म-विश्वास के बिना हल्के कार्य भी भारी हो जाते हैं और पूरे नहीं हो पाते। उस आत्म विश्वास को उत्पन्न करने वाला भी मन ही है।

विजयाभिमान में आत्म-विश्वास ही सफलता में सहायक हो सकता है। शारीरिक स्वास्थ्य और आकर्षक व्यक्तित्व में भी आत्म विश्वास की शक्ति ही कार्य करती है। उसके द्वारा अनेक कल्पनायें साकार तथा सफलीभूत हो जाती हैं। अनेकों बड़ी-बड़ी योजनाओं के क्रियान्वयन में आत्म विश्वास ही सहायक होता है।

यदि आत्म विश्वास की कमी है तो मन को उसमें योजित करो। फिर देखो कि वह कमी दूर होती है या नहीं? मन से ही साहस और स्फूर्ति उत्पन्न होती है। बहुत बार देखते हैं कि दो व्यक्तियों की लड़ाई में निर्बल बाजी मार लेता है और सबल पिटता जाता है।

बहुत बार कुश्तियों के प्रदर्शन देखे गये हैं। उनमें कभी-कभी तो नामी पहलवान भी हार जाते हैं। किन्तु क्यों? शायद आप सोचें कि

शारीरिक दुर्बलता से ? किन्तु नहीं, उनकी हार का कारण शारीरिक दुर्बलता नहीं, मानसिक दुर्बलता ही होती है। यदि मन सबल हो, उसमें भय या आशंका न हो तथा आत्म-विश्वास हो तो कमजोर व्यक्ति भी अपने सुबलतम प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़ सकता है।

मनोयोग की महत्ता

किसी भी कार्य को मनोयोग से किया जाय तो सभी बाधाएँ सहज में दूर हो जाती है और उसमें होने वाली तन्मयता वासना पर भी विजय प्राप्त कर लेती है। इस सम्बन्ध में बंगाल के एक भट्टाचार्य की घटना अधिक प्रेरणाप्रद सिद्ध हो सकती है, जो कि इस प्रकार है—

श्रीभट्टाचार्य ने शिक्षा पूर्ण होने पर वेद-भाष्य का सङ्कल्प किया और वे उसमें मनोयोग पूर्वक लग गये। उनकी विवाह योग्य आयु तो हो ही चुकी थी, माता ने उनकी भोगों में अरुचि देखी तो कुछ चिन्तित हुई। फिर उन्हें एक युक्ति सूझी कि विवाह कर दिया जाय। भट्टाचार्य महोदय माता की इच्छा को नहीं टाल सके।

उनका विवाह हो गया। सुयोग्य, सुलक्षणा और युवा पत्नी को प्राप्त करके भी उनका ध्यान भोग की ओर नहीं था। पत्नी के निकट रहते हुए भी वे उसकी ओर ध्यान न देते और सदैव वेद-भाष्य के कार्य में लगे रहते। पत्नी भी विदुषी थी, वह भी वेद-भाष्य में सहयोग देने लगी। इस प्रकार युवावस्था गई, प्रौढ़ावस्था भी निकली जा रही थी। पत्नी ने भी मन को संयत कर लिया था।

उन्होंने अपनी बासठ वर्ष की आयु में वेद-भाष्य का कार्य पूरा किया। अब उनका ध्यान पत्नी की ओर गया। एक अवसर ऐसा आया कि रात्रि चाँदनी थी, सुन्दरी पत्नी निकट ही लेटी थी। उसके भी बाल श्वेत हो चुके थे। किन्तु वासना जाग उठी और वे उसकी ओर उन्मुख हुए।

पत्नी ने उनकी भावना देखी तो हँसती हुई बोली—'आपने वेदों का भाष्य तो पूर्ण कर लिया किन्तु उनका प्रचार कार्य तो अभी शेष ही है, हमें अन्य ओर प्रवृत्ति न रखते हुए उसी ओर बढ़ना चाहिये।' यह सुनकर वे भी शान्त हो गये और दूसरे दिन से ही उन्होंने वेदों के प्रचार का कार्य आरम्भ कर दिया। इसके लिए उन दोनों ने पृथक्-पृथक् दो दिशाएँ बाँट लीं।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक वे दोनों वेदों का प्रचार अपने जीवन के अन्त तक करते रहे। अन्त में उन दोनों ने एक ही स्थान पर तथा एक ही दिन अपनी जीवन लीलाएँ समाप्त की। इससे सिद्ध है कि ज्ञान की खोज और प्राप्ति के लिये भी मन को ही ज्ञान में योजित करना होता है। इसलिए यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि ज्ञान का आधार भी मन ही है, मन का आधार ज्ञान नहीं हो सकता।

चरित्र-निर्माण की दिशा में भी मन ही अधिक सहायक सिद्ध होता है। मन को संयत करने में जो सफल हो गये, वे सब प्रकार से सबल हो गये, उन्होंने सभी क्षेत्रों में अपना सिक्का जमा लिया। स्वामी दयानन्दजी ने भी चरित्र निर्माण पर जोर देते हुए सङ्कल्प की दृढ़ता का निर्देश दिया है—'यह दूसरी बात याद रखना कि जहाँ हमें ज्ञान प्राप्त करना है, दृढ़ संकल्पी बनना है, वहाँ चरित्र को पवित्र बनाने का भी यत्न करना है।'

चरित्र को पवित्र बनाने के दो साधन सत्संग और स्वाध्याय बताकर उन्होंने कहा—'शान्त-एकाँत स्थान पर बैठकर, कमर और गर्दन सीधी रखकर, आँखें बन्द करके अन्तर्मुखी हो जाओ! अन्दर चलो! स्थूल शरीर के अन्दर चले आओ! अन्दर, अन्दर, और अन्दर, डीपर, डीपर, और डीपर, और भी डीपर चले जाओ। अन्त की तह में जब पहुँचोगे तो मोती मिल जायेंगे। यह तरीका है। कोई बहुत कठिन नहीं है यह। केवल अभ्यास की जरूरत है।'

स्वामीजी ने अन्दर प्रविष्ट होने पर जो जोर दिया है, डीपर शब्द पर उससे भी अधिक जोर दिया था। डीपर का अर्थ भीतर अधिक उतरने से है। भीतर की ओर जितने अधिक गहरे उतरने से है। भीतर की ओर जितने अधिक गहरे जाओगे उतना श्रेय सिद्ध कर सकोगे।

मन को एकाग्र करने का यह एक उत्तम उपाय बताया था स्वामीजी ने। और भी बहुत से योगाभ्यासी अन्तर्मन में झांकने का ही उपदेश देते हैं।

भीतर झांकने के इस कार्य से जो श्रेय साधन हो सकता है, वह तो हितकर है ही, किन्तु बाहर देखने का कार्य भी कम महत्व पूर्ण नहीं है। उसमें सिद्धि मिलने पर भीतर देखने का कार्य भी स्वतः सिद्ध होने लगता है।

वस्तुतः जो कुछ करो, मन को एकाग्र बनाकर करो। भीतर देखो चाहे बाहर, दोनों में मनोयोग अपेक्षित है। मन का योग न हो तो, न तो भीतर ही कुछ पा सकते हैं और न बाहर ही।

अभ्यास से सभी कार्य सहज ही सिद्ध हो सकते हैं। योगाचार प्रत्येक क्रिया में अभ्यास का ही निर्देश देता है। यम से समाधि पर्यन्त, योग के आठों अङ्गों की सिद्धि अभ्यास पर ही निर्भर है।

किन्तु, मन को पकड़ा नहीं जाता तो वह अभ्यास की भी उपेक्षा करता है। इसलिये मन को पकड़ने का प्रयत्न करो, बल पूर्वक नहीं, ढील देते हुए। मन को भी उतनी ही ढील अपेक्षित है जितनी प्रायः घोड़े को आवश्यक होती है। परन्तु ढील देते हुए भी इतनी सावधानी अवश्य रखनी चाहिये कि वह कुचाल न चले, जिससे किसी गर्त में गिरने का अवसर न आ उपस्थित हो।

ध्यान के अभ्यास से यह कार्य सरलता से होने लगता है। ध्यान की वह क्रिया चाहे अन्तर्मुखी, हो अथवा त्राटक के रूप में बहिर्मुखी, अभ्यास के बिना अभीष्ट रूप में नहीं हो पाती।

—:—

योग साधना से मन पर विजय

मानसिक शान्ति के लिये विभिन्न प्रयोग

यद्यपि आचार्यों ने मन पर विजय प्राप्त करने के अनेक उपायों पर प्रकाश डाला है और उन उपायों में योग के समस्त अङ्ग सम्मिलित किये जा सकते हैं। अष्टांग योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-यह आठ अंग माने जाते हैं। इन सभी की सहायता से मन सहज में ही काबू में आ सकता है। किन्तु, यह सभी साधन अभ्यास के द्वारा ही सिद्ध हो सकते हैं।

उन साधनों के साथ परमात्मा में श्रद्धा, विश्वास और भक्ति की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। जब तक इन तीन में से किसी एक का भी अभाव रहता है, मन संयत नहीं हो पाता। श्रद्धा ही नहीं तो भक्ति कहाँ से उत्पन्न होगी ? जिसमें विश्वास नहीं, उसमें मन का लगना कैसे सम्भव होगा ? एक ओर श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं, भक्ति नहीं और दूसरी ओर मन को उसमें लगाना चाहो तो यह एक वैसी ही बात होगी जैसी कोई कहे कि गधे के सींग होते हैं या कोई कहे कि मैं हथेली पर सरसों जमा सकता हूँ। कभी देखा है आपने ऐसा होता हुआ ?

मन को जीतने के लिए पहिले यह निश्चय करो कि उसका जीतना आवश्यक है। किसलिए उसे जीता जाय ? आत्मा को शान्ति मिले, क्योंकि शान्ति ही सुख का मूल है। वह शान्ति तभी मिलेगी, जब मन अशान्ति उत्पन्न करने वाले विषयों से दूर हटने लगेगा। ध्यान रखो कि इन्द्रियों के विषय बहुत ही प्रबल होते हैं। वे मन को बार-बार अपनी ओर खींचते हैं। आप चाहें कि मन हमारे वश में रहे तो उसके लिये स्वयं को सबल बनाना होगा। इतना सबल कि मन आपके हाथ से निकलने ही न पावे।

परन्तु, मन को अपने वश में रखने का उपाय वह नहीं है, जैसे किसी सर्कस में शेर पिंजड़ों में बन्द रखे जाते हैं। सर्कसों में ही आपने देखा होगा कि खेल दिखाते समय वे ही शेर क्रीड़ास्थल में खुले छोड़ दिये जाते हैं और उनके साथ क्रीड़ा करने वाला मनुष्य (रिंग मास्टर) उन्हें अपने संकेत पर नचाता रहता है। यहाँ तक कि वह कभी-कभी किसी शेर के मुख में अपना सिर तक घुसा देता है, फिर भी शेर कुछ नहीं कहता। क्यों नहीं कहता ? यह आत्मबल का परिणाम है, मन के संयम का भी परिणाम है। आत्मा, आत्मा को पहचानता है और मन मन को जाने रहता है। आप कहेंगे उन्हें इस प्रकार की शिक्षा दी जाती है, तब आत्मबल क्या हुआ ? हमारा विचार है कि वह शिक्षा भी है तो मन को जीतने की ही है। शिक्षा में अभ्यास निहित है, अभ्यास के बिना किसी कार्य को सफलता पूर्वक सम्पन्न नहीं किया जा सकता।

किन्तु मन के साथ संघर्ष मत करो। संघर्ष से उस पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। मन को जीतने के लिए परमात्मा में विश्वास करो और आत्मा को परमात्मा का ही रूप मानो। जो आत्मा है, वही परमात्मा है, उसमें विश्वास करो, श्रद्धा रखो और भक्ति में निमग्न हो जाओ। यह तीन तीन सशक्त आयुध हैं मन को जीतने के लिए।

उनके सहयोगी साधन हैं—आसन, प्राणायाम, जप, योग, निदिध्यासन आदि।

आत्मा में ब्रह्म भावना

आत्मा में ब्रह्म की भावना करो और मन को उसमें योजित करने का प्रयत्न करो, किन्तु बल पूर्वक नहीं। बल से किसी के शरीर को तो वश में किया जा सकता है, किन्तु हृदय या मन को नहीं किया जा सकता। किसी का हृदय जीतना है तो प्रेम से सहज में ही जीत सकते हो।

मन को जीतने के लिये उसका निरीक्षण करो, उसकी गति-विधियों पर दृष्टि रखो, देखो कि वह कहाँ-कहाँ जाता है ? किस-किस स्थान की सैर करता है। उसी प्रकार जैसे पुलिस का अधिकारी किसी अपराधी-प्रवृत्ति के मनुष्य की गति-विधियों के प्रति सतर्क रहता है और वह मनुष्य भी जब यह जान लेता है कि मुझ पर पुलिस की नजर है तो वह सावधान होजाता है और प्रयत्न करता है कि उसकी पकड़ में न आवे।

ऐसे कुछ उदाहरण मिले हैं, जिनके अनुसार अनेक अपराधी प्रवृत्ति के मनुष्य पुलिस की सतर्क दृष्टि से बचने के लिये सावधान रहते-रहते ही अपने विचारों को बदल बैठे। धीरे-धीरे उनकी वह सावधानी आदत में आती चली गई और वे भले आदमी बन गये।

समाचार पत्रों के पाठक यह जानते हैं कि अब तक बहुत-से डाकू आत्म-समर्पण कर चुके हैं। उनमें से कुछ तो इतने बदल गये कि अपनी सजा पूरी करके सद्गृहस्थों के समान जीवन व्यतीत कर रहे हैं। आज उन्होंने समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। उनका जेल-जीवन भी इतना सात्विक रहा कि जेल अधिकारी भी उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सके।

अनेक कुप्रवृत्ति के मनुष्य समाज-भय से अपनी कुप्रवृत्तियों को छिपाये रहते हैं। उन्हें भय रहता है कि मेरे बुरे कार्यों को कोई देख लेगा तो समाज में निन्दा करेगा, जिससे मेरी प्रतिष्ठा नष्ट हो जायगी। सब वही भय उसे बुर कार्यों से रोके रहता है और समाज में अपयश न हो, इस उद्देश्य से अपना आपा सुधार लेता है। ऐसे न जानें कितने व्यक्ति अपनी तमोगुणी और रजोगुणी प्रवृत्ति छोड़ कर सतोगुणी बन गये।

मन की दशा भी उन अपराधी प्रवृत्ति वालों या दुष्कर्मियों जैसी ही है। वह भी आपकी तीखी नजरों से बचना चाहता है। जब वह जान लेता है कि आप उसकी गति-विधियों पर दृष्टि रखे हुए हैं, तब वह सँभलने का प्रयत्न करता है। उसका चोरी-छिपे दूर की सैर को निकलना कम हो जाता है। एक दिन यह भी होता है कि उसकी चंचलता दूर हो जाती है और वह शान्त तथा सुस्थिर हो जाता है। हम इसे अपनी जीत कह सकते हैं—मन पर जीत, कन्क्वैस्ट आफ माइण्ड।

देहाध्यास का त्याग

मन को जीतने के लिये सत्य में स्थित होओ और देहाध्यास का त्याग कर दो। देहाध्यास का अभिप्राय है शरीर को ही आत्मा मान लेना, शरीर में ही 'मैं' भाव स्वीकार कर लेना। ध्यान रखो कि शरीर आत्मा नहीं है, इनमें इतना अन्तर है, जितना धरती और आकाश में। शरीर नष्ट होने वाला है, मरणधर्मा है, उसके पाँचों तत्व अपने अपने तत्व में जा मिलते हैं, जब कि आत्मा अविनाशी है, उसका नाश कभी नहीं होता। एक शरीर मरता है तो आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है और उसे इन शरीरों की प्राप्ति भी अपने जन्म-जन्मान्तर के शुभाशुभ कर्मों के भोग स्वरूप ही होती है। जब उन सब प्रकार के

कर्मों का क्षय हो जाता है, तब उसका आवागमन छूट जाता है, वह मुक्त हो जाता है।

मन को जीतने का उपाय बताते हुए स्वामी शिवानन्दजी ने अपनी 'कन्क्वैस्ट आफ माइण्ड' पुस्तक में कहा है—

Do not fight with the mind. Live in Truth. Live in om. Live in Atman, through Vichara. Brahma-bhavana and Nididhyasana.

अर्थात् 'मन से लड़ाई मत लड़ो, वरन् विचार, ब्रह्म-भावना और निदिध्यासन के (अभ्यास) द्वारा सत्य में स्थित होओ, ओंकार में स्थित होओ तथा आत्मा में स्थित होओ।'

आत्मा को परमात्मा मान लेना ही सत्य में स्थित होना है। क्योंकि आत्मा सत्य है, परमात्मा सत्य है। जो अविनाशी है, जो कभी मरता नहीं है, वह असत्य भी नहीं हो सकता। असत्य वही है जो नाशवान है। इसलिये आत्मा में ब्रह्म की भावना करो—'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ)। बस यही भावना मन को जीतने के लिये पर्याप्त है।

परन्तु, यदि इसमें सफलता न भी मिले तो उसे असंभव मत समझो। असम्भव तो कुछ है ही नहीं। जो बात मस्तिष्क में आती है, उसका कुछ न कुछ आधार अवश्य होता है और जिसका आधार है वह असंभव कैसे ? यदि असम्भव हो तो मस्तिष्क में ही न आये। यह बात दूसरी है कि जो हमारे मस्तिष्क में आजाय उसे क्रियात्मक रूप देने में हम स्वयं समर्थ न हो सकें। क्योंकि मस्तिष्क जो कुछ सोचता है, उस सभी को हम नहीं कर सकते।

यदि किसी कार्य को करने की इच्छा जाग्रत् हुई है तो वह हो भी सकता है। उसमें निराश होने की कोई बात नहीं है। यदि उसमें असफलता मिली हो तो उसके लिये जो-जो प्रयत्न किये गये हैं, उन पर पुनः विचार करो और देखो कि असफलता का कारण क्या है ? कोई

न कोई त्रुटि अवश्य हुई होगी। हो सकता है कि वह त्रुटि एक-दो बार में पकड़ में न आवे। कभी-कभी तो कई-कई बार में त्रुटि की ओर ध्यान नहीं जाता और मनुष्य निराश नहीं होता तो भी निरुत्साह तो हो ही जाता है।

किन्तु बहुत-से होते हैं, जो निरुत्साहित होते हुए भी अपने कार्य को नहीं छोड़ते। कष्ट उठाते हुए भी आगे बढ़ते रहते हैं और एक दिन वह होता है जब त्रुटि पकड़ में आजाती है और वह पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त कर लेता है।

विचारों की जागृति और विवेक ज्ञान

जब मन में विचार जाग्रत् होते हैं तब मनुष्य स्वयं ही सोचने लगता है कि अमुक अशुभ वृत्ति के उत्पन्न होने का कारण क्या है? इसका सम्बन्ध किससे है? और फिर, इसका निवारण कैसे हो सकता है? यद्यपि यह सभी प्रश्न आरम्भ में समस्या रूप में उठते हैं, किन्तु बाद में क्रमशः उनका समाधान स्वतः होने लगता है। जब समाधान होता है तब निवारण का उपाय भी अनजाना नहीं रहता, विशेष कर उन व्यक्तियों के लिये जो अध्ययनशील हैं अथवा विद्वानों का सत्सङ्ग करते रहते हैं।

यम-नियमों के द्वारा आरम्भ में ही मन पवित्र होने लगता है। सत्य, अहिंसा, निर्लोभता, निर्मोहता, अहङ्कार-रहितता, ईर्ष्या-द्वेष-रहितता आदि के कारण मन धीरे-धीरे सतोगुणी प्रवृत्तियों की ओर बढ़ता है। आचरण में स्वच्छता आने लगती है और ईश्वर में श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न हो जाती है।

यम-नियमों के द्वारा मुख्यतः आत्मशुद्धि ही होती है। आत्म-शुद्धि ही वस्तुतः एक ऐसा सशक्त साधन है जो मन को विषयों की ओर से खींचता है। बल पूर्वक नहीं, क्रमशः और स्वाभाविक रूप से। क्योंकि

मन पर वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है और यम-नियमों के द्वारा वातावरण भी कुछ ऐसा बनने लगता है कि मन स्वयं इन्द्रियों के विषयों से दूर भागने लगे।

योगीजन मन की निवृत्ति में आसन के उपयोग को भी सहायक मानते है। वस्तुतः आसन के द्वारा बैठने का अभ्यास किया जाता है। किसी भी साधना के लिये बैठने का अभ्यास बहुत आवश्यक है। जिस स्थिति में सुखपूर्वक बैठा जा सके, मन में ऊब उत्पन्न न हो और थकान का भी अनुभव न हो, वह आसन सदैव उपयोगी रहता है।

यदि आसन सुखदायक और सरल न हो तो मन शीघ्र ही ऊब जाता है। उसके कारण साधना भी नहीं बनती और थकान भी होने लगती हैं। जब थकान होने लगेगी तब साधना कैसे होगी ? उस स्थिति में शरीर और मन दोनों में ही तनाव उत्पन्न हो जायगा।

उस तनाव से बचने के लिये ऐसी स्थिति में बैठना अपेक्षित है, जिससे किसी प्रकार की असुविधा प्रतीत न हो और इच्छित अवधि तक आराम से बैठा जा सके। किन्तु उसके लिये भी निरन्तर अभ्यास किया जाना आवश्यक होता है।

योगीजन सुविधा जनक स्थिति में बैठ कर ही प्राणायाम का अभ्यास करते हैं। प्राणायाम श्वास-प्रश्वास को नियमित करने वाली एक अत्यन्त उपयोगी क्रिया है, जिसके लाभों से सामान्य मनुष्य अनभिज्ञ हैं। किन्तु साधकों को प्राणायाम के द्वारा प्राप्त हो सकने वाले लाभों के विषय में जानकारी रहनी चाहिए।

प्राणायाम के अभ्यास अनियमित श्वास क्रिया नियमित होजाती है, जिसके फल स्वरूप समस्त शरीर में रक्त संचार की गति में सुधार होने लगता है। क्रोध, मोह, ईर्ष्या, काम-वासना आदि के नियन्त्रण में इसका बहुत ही अनुकूल प्रभाव पड़ता है, जिससे मन भी संयमित होने लगता है।

मन का संयम, मानसिक स्वास्थ्य का ही नहीं, शारीरिक स्वास्थ्य का भी प्रतीक हैं। यदि मन में खेद भरा है तो शरीर ही निरोग कैसे रह सकता है ? इसलिए मन की स्थिरता के कार्य में प्राणायाम की भी सहायता ली जासकती है।

प्राणायाम की क्रिया द्वारा बाह्य वातावरण में विद्यमान प्राण का आकर्षण किया जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक उसी प्राणतत्व के अंश को ऑक्सीजन कहते हैं। प्राणायाम का अभ्यासी साधक अपेक्षित मात्रा में ऑक्सीजन प्राप्त करने और शरीर के भीतर बनने वाली दूषित गैसों या कार्बन डाई ओक्साइड प्रभृति वायुओं को बाहर निकालने में समर्थ रहता है।

मनोजय और प्राणायाम

मन को जीतने में प्राणायाम की ही एक क्रिया 'कुम्भक' अधिक उपयोगी रहती है। कुम्भक का अभिप्राय बाहर से वायु खीच कर भीतर भर लेने और उसे रोकने से है। अभ्यास के द्वारा यह वायु इच्छित अवधि तक भीतर रोकी जा सकती है।

प्राणायाम की तीन गतियाँ प्रसिद्ध हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक। इनका अभ्यास क्रमशः किया जाता है। यदि यह कुछ मिनट भी किया जाता रहे तो शरीरस्थ नाड़ियाँ शुद्ध होने लगती हैं और मन में भी स्थिरता आने लगती है। यदि साधक ध्वनि-बद्ध रूप से करने लगे तो निश्चय ही लाभ की सम्भावनाएँ बढ़ती जाती हैं।

अभ्यास किया जाता रहे तो कुम्भक का समय बढ़ता रह सकता हैं। उसे अपेक्षित समय तक करने के लिये सुविधाजनक आसन हल्का और सात्विक भोजन, ईश्वर में श्रद्धा और योगाभ्यास की शक्ति में विश्वास होना अपेक्षित है। सुधरी हुई दिनचर्या वाला साधक अपने आत्मिक उत्थान की दिशा में अल्प समय में ही पर्याप्त सफलता प्राप्त कर सकता है।

योगाचार्यों ने अष्टांग योग की पाँचवी क्रिया—प्रत्याहार को बहुत ही उपयोगी माना है। प्रत्याहार का अभिप्राय है अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कर लेना। इसमें चित्तवृत्ति बाह्य विषयों से हट कर ध्येय वृत्ति धारण कर लेती है। वस्तुतः अभ्यास द्वारा सिद्ध हुआ प्रत्याहार मन को संयत करने का एक सबल उपाय है। इसके रूप का निर्देश करते हुए महर्षि पतंजलि अपने योग सूत्र (२।५४) में कहते हैं—

स्वविषया सम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

अर्थात् इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध छोड़कर चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा होजाना ही प्रत्याहार है। अभिप्राय यह है कि इन्द्रियाँ चित्त के अधीन होजाँय, चित्त उन्हें जिधर लेजाना चाहे उधर ही चलने लगें, अपने अस्तित्व को भूल जाँय। यह वह अवस्था होती है जब इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से विरक्त होजाती हैं और चित्त उनकी ओर से निश्चित होकर आत्म तत्व की ओर जाने लगता है। इसलिये मन को जीतने का यह एक सबल उपाय समझा जा सकता है।

कठोपनिषत्कार का कथन है कि स्वयंभू ने इन्द्रियों के छिद्र बाहर की ओर बनाये हैं, इसीलिए मनुष्य बाहर की ओर देखता है, भीतर की ओर नहीं देख सकता। परन्तु प्रत्याहार का अभ्यास मनुष्य को अन्तर्द्रष्टा बना देता है। जो लोग अमृतत्व की कामना से इसके अभ्यास में सफल होजाते हैं, वे आत्म दर्शन के लाभ में सफल होजाते हैं।

अगले सूत्र में महर्षि ने 'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्' कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि 'प्रत्याहार का अभ्यास सिद्ध होने पर इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से वश में होजाती हैं।' इस प्रकार इन्द्रियजय और मनोजय में प्रत्याहार के द्वारा स्वतः ही सफलता मिल जाती है, किसी अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं रहती।

उसके पश्चात् योग का एक अंग 'धारणा' है। इसका शाब्दिक अर्थ कुछ भी बने, अभिप्राय यह है कि जिस विषय विशेष में चित्त वृत्ति को स्थिर कर लिया जाय, उसी विषय में उसकी धारणा हुई मानी जाती है। यदि चित्त को आत्मा में योजित करें तो उसकी वृत्ति वैसा ही आकार धारण करने लगती है।

योगदर्शन में धारणा का स्वरूप बताते हुए कहा है—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' अर्थात् 'धारणा वह है जिसके चित्त को वृत्ति मात्र से किसी एक देश में स्थिर कर लिया जाय।' साधक चाहे जिस वस्तु में चित्त वृत्ति को ठहरा सकता है। ऐसा अभ्यास मनोजय की दिशा में अन्तिम सीमा है। मन आज्ञाकारी बन कर स्थित रहे और अपनी उछल कूद छोड़ दे तो उसे जिस एक विषय में ठहरने का स्थान मिलेगा, वही वह स्थिति धारणा का रूप धारण कर लेगी।

धारणा से ध्यान में भी सहायता मिलती है। ध्यान का रूप 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (यो. द. ३।२) अर्थात् 'जहाँ चित्त को ठहराया जाय, उसी में वृत्ति का समान रूप से स्थिर रहना' है। जब चित्तवृत्ति ध्येय का रूप चिन्तन में ही लगी रही, उसके मध्य ध्येयाकार के अतिरिक्त कोई अन्य वृत्ति न आवे, तब वह स्थिति ध्यान कही जायगी। इसमें मन पूर्ण रूप से स्थिर और शान्त होचुका होता है।

वस्तुतः मानसिक शान्ति में ध्यान का बहुत बड़ा योगदान है। जब तक ध्यान का अभ्यास ठीक प्रकार से नहीं होता, तब तक शान्ति भी पूर्ण रूप से नहीं मिल सकती। जब ध्यानावस्था का अभ्यास सुदृढ़ हो जाता है, तब समाधि की अवस्था आजाती है। समाधि योग की अन्तिम प्रक्रिया है। जिसने समाधि सिद्ध कर ली, उसने सब कुछ सिद्ध कर लिया।

षट्कर्म में निर्दिष्ट त्राटक साधना

योग का तात्विक अर्थ मन को परमात्मा या आत्मा के साथ योजित करना है। उक्त क्रियाओं के अतिरिक्त और भी बहुत-सी क्रियाएँ हैं, जिनका उपयोग सरलता पूर्वक किया जा सकता है। उनमें हठयोग के अन्य अनेक कर्म भी सम्मिलित किये जाते हैं। घेरण्ड-संहिताकार ने षट्कर्मों का उल्लेख किया है—

धौतिर्वस्तिस्तथानेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥

अर्थात्—धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति, योगी के लिये इन छः कर्मों का आचरण आवश्यक है।

वस्तुतः यह षट्कर्म शरीर और मन दोनों के शोधन में उपयोगी माने जाते हैं। विशेषकर जब शरीर में कफ-पित्तादि दोष हों तब तो इन्हें अवश्य ही करना चाहिए, यथा—मेदश्लेष्माधिकः पूर्वषट्कर्माणि समाचरेत्।' हठयोग प्रदीपिका के मत में—

कर्म षट्कमिदं गोप्य घटशोधनकारकम्।
विचित्र गुण संधायि पूज्यते योगि पुंगवैं॥

अर्थात्—शरीर का शोधन करने वाले यह छः कर्म गोपनीय हैं, इनके अभ्यास से अद्भुत गुणों की प्राप्ति होती है। इसीलिए श्रेष्ठ योगिजन इन कर्मों की प्रशंसा किया करते हैं।

धौति कर्म शरीरिक शुद्धि के लिये किये जाते हैं। इसके अनेक प्रकार हैं, जिनसे बाहरी और आन्तरिक मल की सफाई की जाती है। वर्तमान समय में लोग स्नानादि के द्वारा बाहरी शोधन तो कर लेते हैं,

किन्तु आन्तरिक शोधन नहीं कर पाते। इन धौति-कर्मों में दन्त धौति का भी उल्लेख है, जिसके ४ भेद हैं—दन्तमूल, जिह्वामूल, कर्णरन्ध्र और कपाल रन्ध्र। इनके द्वारा क्रमशः दाँत, जीभ, कान और कपाल का शोधन किया जाता है। मन की एकाग्रता में यह सभी प्रकार के शोधन बहुत कुछ सहायक सिद्ध होते हैं।

दाँत और जीभ की सफाई की ओर तो साधारण मनुष्य भी ध्यान देने लगे हैं। दाँतों की सफाई के लिये मंजन या पेस्ट आदि का प्रयोग कर सकते हैं। हाथ की अँगुलियों को हलक तक डालकर कण्ठ के भीतरी भाग की सफाई करना भी बहुत लाभप्रद रहता है। यही दन्त-मूल धौति और जिह्वामूल धौति के रूप हैं।

इसी प्रकार कानों के छिद्रों में तर्जनी और अनामिका अँगुलियों को मिला कर उनकी नित्य सफाई करनी चाहिए। घेरण्ड ऋषि का मत है कि 'नित्यमभ्यास योगेन नादान्तर प्रकाशयेत्' अर्थात् 'इसका नित्य प्रति अभ्यास करते रहने से आन्तरिक नाद प्रकट होता है।'

कानों को अँगुलियों से बन्द करके देखिये—भीतर से शब्द सुनाई देगा। लगेगा कि कुछ सीटी-सी बज रही हैं, अथवा कुछ झींगुर-से बोल रहे हैं। यदि इसका अभ्यास किया जाता रहे तो यही शब्द वंशी आदि सुमधुर वाद्यों की ध्वनि के रूप में बदल जाता है। उस शब्द में मन रमने लगता है। चित्त में एकाग्रता बढ़ने लगती है। अनेक योगी मानते है कि यही शब्द आत्मा की आवाज है। इसी को 'नाद' कहते हैं।

राजयोग का साधक इसी नाद क' अभ्यास किया करता है। 'सुरत शब्द' भी यही है, जिसके अभ्यास में बहुत-से योग साधक लगे रहते हैं। परन्तु यदि कानों में मैल भरा हो तो यह शब्द ठीक प्रकार से नहीं सुना जा सकता। जब कानों में बाहरी धूल आदि पदार्थ भर कर जमने लगते हैं, तब वे मैल का रूप धारण कर लेते हैं। पहिले वह मैल मोम

जैसा बन जाता और धीरे-धीरे जमता हुआ कड़ी पर्त जैसा होजाता है, जिससे श्रवण शक्ति में भी बाधा पड़ती है।

इसलिए कर्णरन्ध्र धौति को अधिक उपयोगी समझा जाता है। यदि नित्यप्रति वह मैल निकाला जाता रहे तो श्रवण शक्ति के कार्य में कोई रुकावट नहीं आती। बाहरी और भीतरी सभी शब्द सहज ही सुने जा सकते हैं।

यदि मैल के विषय में उपेक्षा की जाती है तो वहाँ क्षत बनना, पीव पड़ना, स्राव होने लगना आदि कारणों से कष्ट भी उठाना पड़ सकता है। आज-कल कुछ लोग कान मैलियों से भी मैल निकलवाते देखे जाते हैं। औषधि शास्त्र भी ऐसी अनेक औषधियों का निर्देश करता है, जिनके द्वारा मैल फूल कर सरलता से बाहर निकाला जा सकता है।

योगाचार्यों ने जिस कपालरन्ध्र धौति की चर्चा की है, वह भी शारीरिक स्वास्थ्य और चित्त की एकाग्रता की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। खोपड़ी के मध्य में कपालरन्ध्र की स्थिति है। इसके द्वारा समूचे शरीर का नियन्त्रण होता है। दाँये हाथ के अँगूठे से अथवा अँगुली आदि से कपालरन्ध्र को मलना चाहिये। इससे नाड़ी मल-रहित हो जाती है तथा कफ-दोष दूर होते हैं। घेरण्ड-संहिता में इसके अभ्यास के तीन अवसर कहे हैं—(१) निद्रान्त में अर्थात् प्रातःकाल सोकर उठने पर या प्रातःकालीन स्नान के समय, (२) भोजनोपरान्त (मध्याह्न काल में), और (३) दिवान्त में अर्थात् सायंकाल। इस प्रकार तीन बार यह क्रिया करनी चाहिए।

मथुरा के प्रमुख भैषज्यविद् कविराज दाऊदयाल गुप्त ने इस धौति के विषय में अपने व्यक्तिगत अनुभव बताते हुए कहा था कि "बाँये हाथ में जल से भरा हुआ पात्र लें और उससे धीरे-धीरे कपाल पर जल डाल

कर दाँये हाथ के अँगूठे-अँगुलियों या हथेली से रगड़ें। इस क्रिया में मस्तिष्क की शक्ति बहुत बढ़ जाती है और जुकाम-खाँसी आदि का प्रकोप भी प्रायः नहीं होता।"

संहिताकार ने तीन प्रकार की हृद्-धौति का वर्णन किया है—दण्डधौति, वसन धौति और वमन धौति। इनके द्वारा शरीर के भीतरी अंगों, विशेष कर हृदय का शोधन होता है।

इनमें दण्डधौति का प्रयोग सामान्य लोगों के लिये अधिक कठिन और वसन धौति कुछ कम कठिन है। इनका प्रयोग गुरु से सीख कर किया जाना ही अधिक अनुकूल रहता है। किन्तु वमन धौति का प्रयोग अधिक कठिन नहीं है। उसका नियम यह है कि भोजन करने के पश्चात् पर्याप्त पानी पीवे और फिर ऊपर आकाश की ओर देखते हुए उसे बाहर निकाल दे। इस प्रयोग के समय जल में कुछ भाग नमक मिला लिया जाय तो वमन शीघ्र हो सकती है। कुछ लोग मुख में हलक पर्यन्त अँगुलियाँ डाल कर भी वमन क्रिया को सरल बना लेते हैं।

किन्तु वमन धौति का प्रयोग नित्य प्रति करना अनावश्यक है। जब कलेजा भारी हो, खाया पिया ठीक प्रकार से न पचे तभी इसका प्रयोग उचित होता है। जिनके लिये अनुकूल पड़ता हो, वे इसे दैनिक रूप से भी कर सकते हैं। किन्तु फिर यह क्रिया आदत में सम्मिलित हो जायगी।

षट् कर्म का दूसरा अंग वस्ति कर्म है। यह एक प्रकार का यौगिक एनिमा ही है। इसके दो भेद हैं—जल वस्ति और शुष्क वस्ति। जल में नाभि पर्यन्त बैठ कर उत्कटासन लगावे और गुह्य देश का आकुंचन-प्रसारण करे, यह जलवस्ति है। इससे प्रमेह, उदावर्त, क्रूर वायु आदि का निवारण होता है। स्थलवस्ति में अश्विनी मुद्रा के द्वारा गुदा का

आकुंचन-प्रसारण किया जाता है। इसके लिये पश्चिमोत्तासन लगा कर बैठे और नीचे के भाग में वस्ति का परिचालन करे। इससे कोष्ठ दोष और आमवात आदि रोगों की निवृत्ति जठराग्नि की वृद्धि होती है।

किन्तु सभी लोग इन क्रियाओं को भी अभ्यास न होने के कारण नहीं कर सकते। इसके विकल्प रूप में आधुनिक एनिमा-विधि से काम ले सकते हैं। क्योंकि उक्त दोनों वस्ति कर्म मल-शोधन करने के उद्देश्य से प्रयुक्त किये गये हैं, जिसका कार्य-निर्वाह एनिमा भी ठीक प्रकार से कर देता है।

षट्कर्म-निर्देश में तीसरा कर्म नेति' है। वस्तुतः यह एक प्रकार की नासिका-सम्बन्धी शोधन-क्रिया है। आधे हाथ लम्बा डोरा लेकर नासिका में डालने और मुख मार्ग से उसे निकाल लेने से यह क्रिया पूर्ण होती है।

नेति-कर्म के भी अनेक प्रकार कहे हैं—सूत्र नेति, जल-नेति, दुग्ध, तैल या घृत-नेति। योगिजन इसका सफलता पूर्वक प्रयोग करते हैं। आधुनिक समय में भी रबड़ के कैथेटर के द्वारा इस प्रयोग से लाभ उठाया जाता है। इससे कफ-दोष और नेत्र-दोष दूर होते हैं।

चौथा कर्म 'नौलि' है। इसमें उदर को दोनों पार्श्वों में अत्यन्त वेग से घुमाते हैं। यह क्रिया अधिक कठिन नहीं है तो भी इसका ठीक प्रकार से प्रयोग करने के लिये किसी अनुभवी व्यक्ति से सीख लेना चाहिए। इससे जठरानल का उद्दीपन होता है। किन्तु साधारण स्थिति में इसका प्रयोग आवश्यक नहीं है।

पाँचवाँ कर्म त्राटक है, इस पर प्रकाश डालने से पूर्व हम विषय वस्तु की उपयोगिता देखते हुए छठे कर्म कपालभाति पर प्रकाश डालते हैं। त्राटक की उपयोगिता अधिक देखते हुए उस पर कुछ विस्तार से चर्चा की जायगी।

कपाल भाति के तीन प्रकार हैं—वातक्रम, व्युत्क्रम और शीतक्रम। वा क्रम कपालभ ति में बाँयी नासिका से श्वास खींच कर भीतर भरे और दाँयी नासिका से निकाल दे। इस प्रकार यह पूरक और रेचक क्रियाएँ धीरे-धीरे करनी चाहियें। जिस साधक को प्राणायाम का ज्ञान है, यह इसे सफलता पूर्वक कर सकता। यह क्रिया कफ-दोष के निवारण में अधिक उपयोगी मानी गई है।

शरीर की तीन मुख्य नाड़ियाँ

शास्त्रकार ने इडा नाड़ी से वायु भरने और पिंगला से निकालने का निर्देश दिया है। इडा को चन्द्र नाड़ी, चन्द्र स्वर अथवा गंगा भी कहते हैं। यह नाड़ी बाँयी नासिका में रहती है।

पिंगला का स्थान दाँयी नासिका है। इसे सूर्य नाड़ी, सूर्य स्वर अथवा यमुना भी कहते हैं। इड़ा तमोगुण-प्रधान और पिंगला रजोगुण-प्रधान है। इन दोनों में प्राण-प्रवाह के अनियमित होने से तमोगुण और रजोगुण की वृद्धि होती हैं, इसी कारण मन भोगों की ओर अधिक दौड़ता है।

परन्तु उक्त क्रिया साधक के मन से तमोगुण और रजोगुण का आवरण हटाने में बडी सहायक होती है। इसीलिये इस क्रिया को नाड़ी शोधन प्राणायाम के भी अन्तर्गत रखा जाता है।

जब साधक पर सद्गुरु की कृपा होती है तब वह अपने मन को उक्त दोनों नाड़ियों के प्रभाव से निकाल कर सुषुम्ना में प्रविष्ट करने के योग्य हो जाता है। सुषुम्ना सतोगुण-प्रधान है, इसलिये मन में एकाग्रता आकर परम शान्ति का अनुभव होने लगता है।

व्युत्क्रम कपालभाति में पहिले नासिका के दोनों छेदों से स्वच्छ जल खींचा जाता और मुख के द्वारा निकाल दिया जाता है। उसके बाद मुख से जल खींचते और नासा-छिद्रों में निकाल देते हैं।

यह क्रिया नासा-छिद्रों और नाड़ी-मार्गों को स्वच्छ करने में अत्यंत उपयोगी है। इससे कण्ठ और मुख की भी शुद्धि होती है। वस्तुतः यह क्रिया स्वल्प भेद से जलनेति के समान है। इसकी सिद्धि के लिये भी कुछ अभ्यास करना चाहिये।

शीत्क्रम कपाल भाति में साधक को सीत्कार करते हुए मुख के द्वारा जल खींचने और नासा-छिद्रों द्वारा निकाल देने का निर्देश है। इसका अभ्यास यदि किसी अनुभवी गुरु के निर्देशन में किया जाय तो अधिक उपयुक्त है।

यह क्रिया भी स्वास्थ्य-वर्द्धक और सुखदायक है। इसके द्वारा भी कफदोष का निवारण होता है। शास्त्र का मत है कि इसके करने से 'न जायते च वार्धक्यं जरा नैव प्रजायते' अर्थात् 'शरीर में स्थूलता नहीं बढ़ती और बुढ़ापा नहीं आता।'

इस प्रकार यह तीनों कपालभाति क्रियाएँ भी स्वास्थ्य की वृद्धि में बहुत उपयोगी सिद्ध होती हैं। स्वास्थ्य वृद्धि होगी तो मन भी सबल और स्थिर हो सकेगा। योगाचार्यों साधक अपनी अनुकूलता की दृष्टि से चुनाव कर सकता है। यह आवश्यक नहीं कि कोई साधक सभी क्रियाओं को उपयोगी समझ कर करने ही लगे।

———

साक्षि भावना और योग सिद्ध

साक्षि भावना क्या है ?

साक्षी भावना का अभिप्राय उस भावना से है, जिसमें मनुष्य स्वयं को किसी कर्म में लिप्त न मान कर केवल उसका दर्शक मात्र बना रहे। मन किधर जाता है ? क्या करता है ? उसके प्रति किसी प्रकार का लगाव न रखता हुआ मात्र उसे देखता रहे। क्योंकि यदि तुम उन गतियों और कर्मों में लगाव रखोगे तो तुम स्वयं उसके कर्ता बन जाओगे और वह कर्तापन ही तुम्हें अहंकारी बना देगा।

साधक को यह भावना करनी चाहिये कि 'मेरे शरीर की कोई भी क्रिया मेरी नहीं है। मेरा मन जो कुछ भी सोचता-विचारता है वह भी मेरा सोचना-विचारना नहीं है। क्योंकि मैं न तो मन हूँ न प्राण हूँ, मैं ज्ञान या अज्ञान भी हूँ, वरन् इन सब से सर्वथा भिन्न हूं। मैं स्वयं सत्-चित्-आनन्द स्वरूप हूँ। इस दृश्यमान विश्व प्रपंच में होने वाली कोई भी क्रिया मेरी नहीं है। मैं तो केवल साक्षी मात्र हूँ।'

यदि आप इस प्रकार का निश्चय दृढ़ कर लें तो अवश्य ही आत्म भाव से ऊपर उठ कर परमात्म भाव की प्राप्ति कर सकते हैं। श्वेताश्वरतरोपनिषद् में कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

अर्थात्—सदा ही साथ रहने वाले तथा मित्र भाव से युक्त दो पक्षी रूप आत्मा और परमात्मा, एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं। उनमें से एक (आत्मा) तो वृक्ष के फलों का स्वाद लेता है और दूसरा (परमात्मा) उन फलों को त्याग देता है।

आगे कहा है कि 'जीवात्मा आसक्ति में निमग्न है, सामर्थ्य न होने से मोह में डूबा हुआ रहता और शोक करता है। परन्तु जब वह परमात्मा को और उसकी महिमा को देखता है, तब अपने शोक को छोड़ देता है। जिसमें सब देवताओं और वेदों का निवास है, उस अविनाशी परम व्योम को जो नहीं जानता, वह वेद-ज्ञान से भी क्या निष्कर्ष निकाल सकता है? किन्तु जो उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह उसी में मिल जाता है।'

आत्मा और परमात्मा के विषय में न जानने वाला मनुष्य देहाध्यास में फँस कर शरीर को ही आत्मा मान बैठता है और स्वयं से कर्त्तापन का अभिमान रखता हुआ सांसारिक मोह-माया में फँसा रहता है। वह नहीं समझता कि यह कर्त्तापन का अभिमान ही अहं-त्वं (तू और मैं) की भावना उत्पन्न करता हुआ ऐसा जकड़ लेता है कि फिर छूटना ही कठिन हो जाता है।

साक्षिभाव और आत्म ज्ञान

साक्षी भाव की प्राप्ति के लिये आत्मा ज्ञान बहुत आवश्यक है। जो आत्म ज्ञान है, वही परमात्म-ज्ञान है। यथार्थ ज्ञान वही है। उसी ज्ञान में परमानन्द निहित है। वह आनन्द साक्षी भाव में ही मिल सकता है। जो मनुष्य उस आनन्द को जान लेता है, वही ब्रह्मज्ञानी हो जाता है। तैत्तिरोपनिषद् में महर्षि भृगु का अपने पिता वरुण से ज्ञान-प्राप्ति विषयक एक वृत्तान्त मिलता है – एक बार महर्षि भृगु अपने पिता वरुण के पास गये और बोले 'भगवन्! मुझे ब्रह्मज्ञान दीजिये।' वरुण ने कहा—

'अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन वाणी सभी उस ब्रह्म की प्राप्ति के लिये द्वार रूप हैं। यह प्राणी जिस ब्रह्म से प्रकट होते हैं, जिसके सहारे जीवित रहते हैं तथा अन्त में इसलोक से जाकर जिसमें प्रविष्ट होजाते हैं, वही ब्रह्म है।' यह सुन कर भृगु तपस्या करने लगे। तब उन्हें ज्ञान हुआ कि अन्न ही ब्रह्म है। यथार्थ में यह सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होते, अन्न से ही जीवित रहते और मरने पर अन्न में ही प्रविष्ट होजाते हैं।

ऐसा ज्ञान प्राप्त कर पुनः अपने पिता के समीप गये और उन्हें अपने अनुभव की बात सुनाई। किन्तु जब वे उनसे सहमत न हुए तो भृगु ने पुनः निवेदन किया—'भगवन् ! मुझे ब्रह्मज्ञान दीजिये।'

वरुण ने कहा—'पुत्र ! तप के द्वारा ब्रह्म को जान, क्योंकि तप ही ब्रह्म है।' यह सुन कर भृगु पुनः तप करने लगे और तब उन्होंने समझा कि 'प्राण ही ब्रह्म है। क्योंकि यह सभी प्राणी प्राण से ही उत्पन्न होते, प्राण से ही जीवित रहते और अन्त में प्राण में ही मिल जाते हैं।'

भृगु पुनः अपने पिता के पास गये और उन्हें अपना अनुभव सुनाया। पिता द्वारा असहमति व्यक्त करने पर उन्होंने पुनः निवेदन किया कि 'मुझे ब्रह्मज्ञान दीजिये।' वरुण ने उत्तर दिया—'ब्रह्म को जानने के लिये तप कर, क्योंकि तप ही ब्रह्म है।'

पुनः तप करने के पश्चात् भृगु ने अनुभव किया कि 'मन ही ब्रह्म है, उसी से सब प्राणी जन्म लेते, उसी से जीवित रहते और इस लोक से जाकर मन में ही मिल जाते हैं।' ऐसा निश्चय कर भृगु पुनः वरुण के पास गये, किन्तु जब पिता ने इससे भी असहमति व्यक्त की तो भृगु ने पुनः ब्रह्मज्ञान देने का निवेदन किया। वरुण वही उत्तर दिया—'तप से ब्रह्म को जान, वही ब्रह्म है।' यह सुन कर भृगु पुनः तप करने लगे।

अब उन्हें अनुभव हुआ कि 'विज्ञान ही ब्रह्म है, क्योंकि सभी प्राणी विज्ञान से ही जन्म लेते, उसी से जीवित रहते और मरने पर उसी में जा मिलते हैं।' उन्होंने अपना यह अनुभव पिता से कहा तो उन्होंने इससे भी असहमति व्यक्त की भृगु ने पुनः ब्रह्मज्ञान देने का निवेदन किया तो उन्होंने पुनः वही निर्देश दे दिया—'ब्रह्म को तपस्या से जान, तपस्या ही ब्रह्म है।'

भृगु ने पुनः तप किया। इस बार उन्हें अनुभव हुआ कि 'आनन्द ही ब्रह्म हैं। क्योंकि सभी प्राणी आनन्द से जन्म लेते, आनन्द से ही जीवित रहते और अन्त में इस लोक से जाने पर आनन्द में ही मिल जाते हैं।

भृगु ने अपने इस अनुभव की बात वरुण को बताई तो उन्होंने इसके प्रति सहमति व्यक्त की। तब इस निश्चय ने भृगु को ब्रह्मज्ञानी बना दिया।

वरुण द्वारा उपदेशित यह ब्रह्म विद्या वस्तुतः पंचकोष विद्या है। शरीर पाँच कोषों का समूह मात्र है, जिसका ऊपरी आवरण अन्नमय कोष है। उसके पश्चात् कमशः प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष हैं। वस्तुतः यही अन्तिम कोष रूप में परमात्मा का अंशभूत जीव विद्यमान है। इस विद्या से यह ज्ञान मिलता है कि अन्नमयादि कोषों में विद्यमान यह आनन्दमय जीव इन सभी कोषों से भिन्न है। वह अन्न, प्राण, मन और विज्ञान कुछ भी नहीं है, इन चार कोषों की क्रिया और गतिशीलता से भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो पूर्णरूप से निर्लिप्त एवं साक्षी है। आध्यात्मोपनिषद् का कथन है—

अहं ममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि।
अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा ब्रह्म निष्ठया॥

ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धितद्वृत्ति साक्षिणम् ।
सोऽहमित्येव तद्वृत्या स्वान्यत्रात्मर्मति त्यजेत् ।।

अर्थात्—देह, इन्द्रियाँ आदि अनात्म पदार्थ हैं, इनके प्रति जो 'मैं-मेरा' का भाव रहता है, वह अध्यास (भ्रम) है, इसलिये विद्वान् मनुष्य को इस अध्यास का ब्रह्म निष्ठा के द्वारा त्याग कर देना चाहिये। स्वयं को ही बुद्धि और उसकी वृत्ति का साक्षी-प्रत्यगात्मा जान कर 'वह मैं ही हूँ' ऐसी वृत्ति के द्वारा अपने अतिरिक्त समस्त पदार्थों के प्रति आत्म-बुद्धि का त्याग कर देना चाहिए।

इसी उपनिषद् में आगे कहा है कि 'लोक का अनुसरण करना छोड़ कर देह का अनुसरण भी छोड़ दे और उसके पश्चात् शास्त्रानुसरण अपने प्रति भी अध्यास का त्याग करदे। इस प्रकार समस्त अध्यासों से अपने को विमुख करके और अपनी ही आत्मा में स्थित होकर युक्ति, श्रवण और अनुभव द्वारा अपने को सभी का आत्मरूप जानें, इससे मन का नाश हो जाता है। अर्थात् मन की असाक्षि-वृत्ति दूर होकर साक्षि-भाव में स्थिति होती है।

महाकाश में घटाकाश के समान परमात्मा में आत्मा को एक रूप करके अर्थात् यह मान कर कि मैं आत्मा परमात्मा ही हूँ, अखण्ड भाव से सदैव शान्त स्वभाव रहे। शरीर पर सवार हुई अहंकारमयी बुद्धि को अहंकार से निकाल कर आनन्दरूप चिदात्मा में स्थापित करके लिंग शरीर के प्रति भी आत्मभाव न रखे और सदैव आत्मरूप रहे। अहंकार से मुक्त हुआ मनुष्य ही आत्म स्वरूप को प्राप्त कर पाता है और फिर चन्द्रमा के समान स्वच्छ मन वाला होता हुआ, सदा आनन्द स्वरूप तथा स्वयं प्रकाश बन जाता है। जब क्रिया का नाश होता है (कर्तापन का अभिमान नहीं रहता) तब समस्त चिन्ताएँ दूर होजाती हैं तथा चिन्ताओं

के दूर होने पर वासनाएँ भी नष्ट हो जाती हैं। यह वासना-नाश ही मोक्ष अथवा जीवन्मुक्ति है। महोपनिषद् का कथन है—

मौनवान् निरहंभावो निर्मानो मुक्तमत्सरः।
यः करोति गतोद्वेगः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
सर्वत्र विगतस्नेहो यः साक्षिवदवस्थितः।
निरिच्छो वर्तते कार्ये स जीवन्मुक्त उच्यते॥

अर्थात्—जिसने अहंभाव को छोड़ कर मान-मत्सर का विकार भी त्याग दिया है और जो उद्वेग-रहित होकर कर्म में रत है, ज्ञानीजन उसी को जीवन्मुक्त कहते हैं। जो मोह-रहित रह कर साक्षी के समान जीवन व्यतीत करता है और बिना कर्मफल की कामना किये कर्म में लगा रहता है, वह पुरुष जीवन्मुक्त ही कहलाता है।

साक्षिभाव और विषय-विमुखता

साक्षी भाव में स्थित मनुष्य हर्ष-शोक, उद्वेग-सुख, धर्म-अधर्म, विपत्ति, मृत्यु आदि से भी उदासीन-भाव से रहता है। वह अपनी सभी कामनाओं को छोड़ देता तथा शंका आदि से भी पूर्ण रूप से निवृत्त हो जाता है। उसे कभी किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं होती, केवल जीवन यापनार्थ जब जो कुछ प्राप्त होजाय, उसी में सन्तोष कर लेता है। ऐसा मनुष्य निश्चय ही जीवन्मुक्त कहा जा सकता है।

महोपनिषद् में ही विदेह जनक आगे चल कर शुकदेवजी को बताते हैं—

अति वाह्यं तथा वाह्यमन्तराभ्यन्तरं धियः।
शुक पश्यन्न पश्येस्त्वं साक्षी सम्पूर्ण केवलः॥

अर्थात्—हे शुकदेव जी! तुम बाह्य और आन्तरिक तथा अत्यन्त आन्तरिक दृश्य को देखते हुए भी उसे नहीं देखते, क्योंकि तुम कैवल्य स्थिति में साक्षिरूप से ही अवस्थित हो।

महोपनिषद् में ही निदाघ और उनके पिता महर्षि ऋभु का संवाद रूप वृत्तान्त है, उसमें महर्षि ऋभु उपदेश देते हुए कहते हैं—'इसी आत्म में कर्त्तृत्व और अकर्त्तृत्व दोनों ही विद्यमान हैं। कामना-रहित रहने पर आत्मा अकर्त्ता है और सन्निधिमात्र से कर्त्ता बन जाता है। ब्रह्म में भी कर्त्तृत्व और अकर्त्तृत्व दोनों की ही उपलब्धि है। तुम्हें जिसमें चमत्कार दिखाई दे उसी का आश्रय पकड़ लो। 'मैं सदा ही अकर्त्ता हूँ' ऐसी भावना करने पर परम अमृत नाम वाली समता ही शेष रहती है। जो प्राणी सत्व अवस्था में विद्यमान रह कर इस लोक में उत्पन्न हुए हैं, वही गुणवान हैं। वही आकाश में विद्यमान चन्द्रमा के समा सदा प्रसन्न और अभ्युदय से युक्त होते हैं।

निरालम्बोपनिषद् के अनुसार बन्धन अर्थात् आदि-रहित अज्ञान की वासना से ही मैं जन्म लेता हूँ, मैं मरता हूँ आदि रूप में जो विचार उत्पन्न होते हैं, वही बन्धन है। माता, पिता, भ्राता, पत्नी, पुत्र, घर, उद्यान, खेत आदि मेरे हैं, इस प्रकार के सांसारिक आवरण रूप विचार भी बन्धन रूप ही हैं। कर्त्तापन के अभिमान वाला संस्कार भी बन्धन रूप है। अणिमादि अष्ट ऐश्वर्यों को सिद्ध करने का संकल्प भी बन्धन है। कामना तथा संकल्पों के साथ की जाने वाली मनुष्यों या देवताओं की उपासना भी बन्धन है। यम-नियम आदि अष्टांग योग का संकल्प भी बन्धन है। वर्णाश्रम-धर्म के कर्म-संकल्प, आज्ञा, भय तथा संशय के संकल्प और यज्ञ, व्रत, तप एवं दान की विधियों वाला ज्ञान भी बन्धन हैं। इसी प्रकार केवल मोक्ष का विचार करना भी एक प्रकार का बन्धन ही है।

मोक्ष क्या है ? इस पर विचार करते हुए कहा गया है—'मोक्ष इति च नित्यानित्य वस्तु विचारादनित्यसंसार सुखदुःख विषय समस्त क्षेत्र ममताबन्धक्षयो मोक्षः।' अर्थात् मोक्ष ? नित्य-अनित्य वस्तुओं के

विचार द्वारा अनित्य संसार के सुख-दुःखात्मक सभी विषयों से ममता रूपी बन्धन का नाश होना ही मोक्ष है।'

कर्मों को करता हुआ भी उनसे पृथक् रहे। इन्द्रियों के भोगों का सेवन केवल शरीर और मन की पुष्टि के लिये ही करे। जैसे पानी में रहता हुआ कमल पत्र पानी से निर्लिप्त रहता है, वैसे ही भोगों को भोगता हुआ भी उनके प्रति उदासीन भाव रखे यही साक्षी भाव का रूप है। अमृतनादोपनिषद् में कहा है—

अन्धवत् पश्य रूपाणि शब्दं बधिरवच्छृणु।
काष्ठवत् पश्य वै देहं प्रशान्तस्येति लक्षणम्॥

अर्थात्—जैसे अन्धे को कुछ दिखाई नहीं देता, वैसे ही साधक रूपों को देखता हुआ भी कुछ न देखे, जैसे बहिरा मनुष्य शब्द को नहीं सुनता वैसे ही शब्दों को सुनता हुआ भी न सुने तथा शरीर को काष्ठ के समान समझे, यही प्रशान्त स्थिति है।

विश्व-भ्रान्ति का निराकरण

संसार भ्रम मात्र है, अनेक विद्वानों ने इसे प्रपंच नाम दिया है। जिसमें वास्तविकता न हो, वह प्रपंच है। किन्तु मनुष्य इसी प्रपंच को सत्य मान बैठा है। नादबिंदूपनिषद् ने इस प्रपंच के आभास का कारण अज्ञान ही माना है। अज्ञान की समाप्ति होने पर संसार की सांसारिकता समाप्त हो जाती है। जैसे भ्रम बुद्धि होने पर मनुष्य रस्सी को ही सर्प समझ बैठता है, वैसे ही आत्मज्ञान के अभाव में इस सांसारिक प्रपंच को ही सत्य समझता है। जब मनुष्य रस्सी को ठीक प्रसार से देख लेता है तब सर्प की भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार जब आत्मज्ञान हो जाता है तब सांसारिक प्रपंच का भी लय हो जाता है। फिर, वह यह भी अनुभव करने लगता है कि शरीर भी एक प्रकार का

प्रपंच ही है। जब साधक इस स्थिति में पहुँच जाता है तब प्रारब्ध भी समाप्त हो जाता है।

तेजोबिन्दुपनिषद् ने साक्षी भाव का स्वरूप बताते हुए कहा है—चित्त मेरा नहीं है, बुद्धि मेरी नहीं है, अहङ्कार मेरा नहीं है, इन्द्रिय मेरी नहीं है, शरीर मेरा नहीं है, प्राणादि भी मेरे नहीं हैं, मुझे माया नहीं है, काम, क्रोध भी नहीं है, मैं सब से परे हूँ। इनमें मेरा कुछ भी नहीं है, जगत् में मेरा तो कहीं भी कोई नहीं है। मुझे दोष नहीं लग सकता, क्योंकि कोई लक्षण मेरा है ही नहीं। न तो नेत्र मेरे हैं, न मन मेरा है न कान, नाक, जीभ और हाथ ही मेरे हैं। जाग्रत या स्वप्नावस्था भी मेरी नहीं है। कारण शरीर भी मेरा नहीं है और न चौथी अवस्था ही मेरी है।

कुण्डिकोपनिषद् का मत है—

न मे देहेन सम्बन्धो मेघेनेव विहायसः।
अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु॥

अर्थात्—इस शरीर से मेरा किसी प्रकार का उसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसे आकाश का मेघ से कोई सम्बन्ध नहीं। इस लिए इसकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं से भी मेरा क्या सम्बन्ध हो सकता है?

वस्तुतः शरीर के लिए जिन-जिन अवस्थाओं में रहना होता है, उन-उनका सम्बन्ध आत्मा से नहीं है। क्योंकि आत्मा तो परमात्मा से अभिन्न है। उसमें न माया है, न माया द्वारा निर्मित विश्व प्रपंच। जब मनुष्य को इसका ज्ञान हो जाता है। बस समस्त विधि निषेधों का त्याग कर दिव्यानन्द में लीन हो जाता है। उस समय उसमें यह भावना रहती है। आत्मबोधोपनिषद् के अनुसार—

साक्ष्यहमनपेक्षोऽहं निज महिम्नि संस्थितोऽहमचलोऽहम् अजरोऽम अव्ययोऽहं पक्ष-विपक्षादि भेदविधुरोहम् ।

अर्थात्—मैं साक्षी हूँ, मैं किसी भी अपेक्षा से रहित हूँ, अपनी महिमा में रहता हुआ मैं अचल, अजर तथा अविनाशी हूँ । पक्ष-विपक्ष आदि का भेद भी मुझ में नहीं है ।

कैवल्योपनिषद् के अनुसार—जीव को जब यह ज्ञात हो जाता है कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में जो मायिक प्रपंच दिखाई देता है. वह मैं ही हूँ और ब्रह्मरूप भी मैं ही हूँ, तब वह सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है । फिर कहा है—

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ।।

अर्थात्—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में जो भोग, भोज्य और भोक्ता रूप हैं, वह सदाशिव (परमात्मा) चेतनायुक्त और विलक्षण साक्षी रूप में ही हूँ ।

इस प्रकार का ज्ञान होने पर साधक उक्त तीनों अवस्थाओं से मुक्त होकर परमात्म रूप में ही अवस्थित हो जाता है । ब्रह्मबिन्दूपनिषद् में कहा है—

एक एवात्म मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थान त्रयाद् व्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ।।

अर्थात्—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के व्यतीत होने पर जब साधक एक ही आत्मा का सम्बन्ध मान लेता है तब उसका पुनर्जन्म नहीं होता ।

अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य यह मान लेता है कि आत्मा एक ही है, अथवा जो आत्मा है वही परमात्मा है, उसमें कोई भेद नहीं है तो उस पर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि किसी भी अवस्था का कोई

प्रभाव नहीं पड़ता और वह पूर्णरूप से आत्मभावी हो जाता है। आत्मोपनिषद् में साक्षी भाव के विषय में कहा है—

येनार्थवन्ति तं किं नु विज्ञातरं प्रकाशयेत् ।
क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बालः क्रीडति वस्तुनि ।।
तथैव विद्वान् रमते निर्ममो निरहं सुखी ।
कामान्निष्काम रूपी संचरत्येकचरो मुनिः ।।

अर्थात्—जैसे बालक भूख या शरीर की किसी पीड़ा को छोड़कर (भूलकर) खिलौने के साथ खेलता रहता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष को ममता रहित, अहङ्कार-हीन रूप से सुखी रहते हुए रमण करना और समस्त कामनाओं से मुक्त तथा एकान्तवासी रूप से विचरण करना चाहिये।

अन्नपूर्णोपनिषद् में आसक्ति-रहित मनुष्य का जो लक्षण कहा है, वह साक्षीभाव ही है, यथा—

सर्वकर्म फलादीनां मनसैव न कर्मणा ।
निपुणो यः परित्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ।।

अर्थात्—जो निपुण मनुष्य सभी कर्मों के फल को मन से तो त्याग देता है, किन्तु कर्म से नहीं त्यागता, उसे आसक्ति रहित कहा गया है।

साक्षीभाव और साक्षात्कार

वस्तुतः जीव असाक्षि भाव के कारण ही समस्त व्याधियों वाले इस संसार के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता। त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् का मत है कि अहङ्कार युक्त होने के कारण ही आत्मा को जीव कोटि में आना होता है तथा तब वह अविवेक और प्रकृति के संयोग से मोह ग्रस्त हो जाता है। फिर वासनाओं में फँसने के कारण ही उसे अनेक योनियों की प्राप्ति होती है।

साक्षी भावना के विषय में स्वामी शिवानन्दजी ने अपनी 'कंक्वैस्ट ऑफ माइण्ड' पुस्तक में लिखा है—"जब तुम किसी दूसरे मनुष्य को एपेंडीसाइटिक दर्द से पीड़ित देखते हो तब स्वयं में दर्द का अनुभव नहीं करता। किन्तु जब तुम स्वयं उस दर्द से पीड़ित होते हो तो उससे चिल्लाने लगते हो। क्यों ? क्योंकि तुम्हारा अहंकार तुम्हें अपने शरीर की बात बताता है। यदि उस अहंकार का लोप हो जाय तो तुम (अपने शरीर में भी) किसी प्रकार के दर्द का अनुभव नहीं करोगे। अहंकार की अनुपस्थिति तभी होगी जब तुम अपने व्यक्तित्व को भूल जाओगे, जब तुम साक्षी बन जाओगे और स्वयं को परिपूर्ण ब्रह्म मानने लगोगे।

यदि उक्त विधान के प्रति तुम दृढ़ निश्चयी हो गये हो तो यह तुम्हारे परोक्ष ज्ञान की स्थिति होगी और यदि तुमने ध्यान के द्वारा यथार्थ अनुभव प्राप्त कर लिया होगा तो यह अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान की स्थिति होगी अर्थात् आत्म साक्षात्कार की अनुभूति वाली स्थिति।"

इसी प्रकार और भी अनेक सन्त, महात्मा और सिद्ध पुरुष ध्यान के महत्व को स्वीकार करते रहे हैं। साधक साक्षिभाव के द्वारा मन को

अत्यन्त स्थिर करने में सफल हो सकता है। जब वह अपने को सभी कर्मों के प्रति अकर्ता मान लेता है, तब उसे किसी भी कर्म में दोष का भागी भी नही होना होता। क्योंकि वीतरागी मनुष्य की मनोवृत्ति ऐसी हो जाती है, जिससे उसके द्वारा कोई अशुभ कर्म बन नहीं पाता।

ऐसी स्थिति में ही आत्मज्ञान की उत्पत्ति ठीक से हो पाती है। आत्मज्ञान होने पर ही मनुष्य आत्मा में और परमात्मा में एकीभाव की स्थापना कर पाता है। उस समय उसकी समस्त भ्रान्तियाँ दूर हो चुकती हैं।

आत्म-साक्षात्कार का यही एक मार्ग है, जिसमें साधक नीचे से उत्तरोत्तर ऊपर की ओर बढ़ता है। उसके लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार का भी अभ्यास अपेक्षित होता है। क्योंकि यम-नियमों के पालन से मानसिक शुद्धि होती है, आसन के अभ्यास से मनुष्य अपने शरीर को साधना के लिए उपयुक्त बना लेता है, प्राणायाम के द्वारा श्वास-प्रश्वास की क्रिया नियमित हो जाती है और यदि साधक गुरु की कृपा प्राप्त कर ले तो कुण्डलिनी जागरण की पृष्ठभूमि बना सकता है। प्रत्याहार के द्वारा चित्त की वृत्तियों पर नियन्त्रण होता है तथा धारणा के द्वारा मन को वस्तु विशेष में टिकाने का अभ्यास सिद्ध हो जाता है। ध्यान की त्राटक आदि विधियों में भी योग के यह सभी अङ्ग अत्यन्त सहयोगी सिद्ध होते हैं।

मनोजय का श्रेष्ठ साधन

त्राटक योग

त्राटक का स्वरूप

त्राटक की गणना षट्कर्म में हुई है। इसकी विधि और लाभ का निर्देश करते हुए घेरण्ड ऋषि कहते हैं—

निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्म लक्ष्यं निरीक्षयेत्।
यावद् श्रूणि पतन्ति त्राटकं प्रोच्यते बुधैः ॥
एवमभ्यासयोगेन शाम्भवी जायते ध्रुवम्।
नेत्रदोषा विनश्यन्ति दिव्य दृष्टिः प्रजायते ॥

अर्थात्—निमेष-उन्मेष को रोकने पर जब आँसू न गिरने लगे तब तक किसी लक्ष्य वस्तु की ओर टकटकी लगा कर देखते रहने को त्राटक कहते हैं। इसके अभ्यास से शाम्भवी मुद्रा की सिद्धि होती और नेत्र-दोष दूर होकर दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है।

त्राटक के सम्बन्ध में हठयोग प्रदीपिका के मतानुसार 'निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः' अर्थात् 'लक्ष्य वस्तु को टकटकी लगा कर उसका सूक्ष्म रूप से अवलोकन तो करे ही, उस समय मन को भी एकाग्र रखे। क्योंकि महर्षि ने इससे जिस शाम्भवी मुद्रा का संकेत किया है, उसमें भी मनोयोग का होना अपेक्षित है। घेरण्ड संहिता में ही शाम्भवी मुद्रा का वर्णन निम्न प्रकार हुआ है—

नेत्राञ्जन समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्।
सांभवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

अर्थात्—दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य स्थिर कर आत्मा रूप परमात्मा का दर्शन करे, यही गोपनीय शाम्भवी मुद्रा है।

वस्तुतः त्राटक और शाम्भवी मुद्रा दोनों ही मनोजय के प्रभावशाली उपाय हैं। इनके अभ्यास से आत्मज्ञान भी हो सकता है। और जो क्रिया आत्मज्ञान कराने वाली हो, उससे मानसिक शान्ति होना तो स्वाभाविक ही है।

कुछ अनुभवी विद्वानों का मत है कि त्राटक कर्म योग-साधना में एक उच्चकोटि का उपाय है, इसलिए अनेक व्यक्ति इसे स्वतन्त्र रूप से एक योग ही मानते हैं। इसके अभ्यास से साधक को दिव्य दृष्टि ही प्राप्त नहीं होती, दिव्य शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है। त्राटक सिद्ध योगी जिसकी ओर आँख उठाकर प्रेम पूर्वक देखे वही वश में हो सकता है। किन्तु यदि किसी को क्रोध पूर्वक देखे तो उसका अनिष्ट भी सम्भावित है।

त्राटक सिद्ध योगी की दृष्टि इतनी सबल होजाती है कि यदि वह विध्वंस के विचार से किसी ओर दृष्टिपात करे तो विनाश उपस्थित हो सकता है, बड़े मोटे-मोटे पत्थरों में दरार पड़ सकती है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब त्राटक सिद्धि अधिक प्रबल हो चुकी हो और उसे आत्म-साक्षात्कार की उपलब्धि होगई हो।

त्राटक के अभ्यास से कुण्डलिनी जागरण भी हो सकता है। जिस साधक की कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होजाय, उसकी शक्ति सामर्थ्य अद्भुत होती है। वह जिस दशा में बढ़ना चाहे उसी में प्रगति का अवसर प्राप्त कर सकता है। त्राटक सिद्धि में 'शाम्भवी जायते ध्रुवम्' कहने से कुण्डलिनी जागरण का संकेत मिलता है, क्योंकि अनेक विद्वानों वे कुण्डलिनी को ही शाम्भवी शक्ति, वायवी शक्ति, प्राणशक्ति आदि नामों से पुकारा है। यदि कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाय तो फिर कोई भी सिद्धि अनुपलब्ध नहीं रहती।

भारतीय योगी अपने सभी योग-साधनों में त्राटक को सदा ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते रहे हैं। अनेक अनुभवी योगियों का विश्वास है कि त्राटक-सिद्ध योगी को किसी भी सिद्धि की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि विश्व की वे समस्त सिद्धियाँ उसमें स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती हैं, जिनका उस योगी को पता भी नहीं रहता आवश्यक होने पर अपेक्षित सिद्धि स्वयं ही प्रकट हो जाती है।

त्राटक का मन की शक्तियों पर प्रभाव

त्राटक के अभ्यास का मानसिक शक्तियों पर अद्भुत प्रभाव पड़ता है। उससे मन की समस्त बिखरी हुई शक्तियाँ केन्द्रित होने लगती हैं। त्राटक सिद्धि सम्मोहन का भी सशक्त साधन है। आधुनिक युग में हिप्नोटिज्म और मैस्मेरिज्म की पृष्ठ भूमि में भी त्राटक योग का ही महत्व है।

एक बार हांगकांग निवासी डॉ० अलेक्जेंडर केनन ने त्राटक योग की अद्भुत शक्तियों और उनसे होने वाले चमत्कारों का अनुभूत वर्णन प्रकाशित किया था। श्री केनन अपने जीवन भर आध्यात्म तथा आत्म तत्व की खोज में लगे रहे। इसके लिये उन्होंने चीन, तिब्बत, भारत तथा अन्याय सुदूर देशों की यात्रा करके अनेकों अद्भुत और महत्व-

पूर्ण अनुभव प्राप्त किये थे। इंग्लैंड की सरकार ने श्री केनन के कार्यों से प्रभावित होकर उन्हें 'नाइट' की उपाधि से विभूषित किया था।

उन्होंने अपनी, इनविछिविल इन्फ्लुएन्स' नामक पुस्तक में तिब्बत के एक लामा से भेंट और उसकी अद्भुत योग शक्ति के वृत्तान्त की चर्चा की थी। घटना इस प्रकार हुई—

एक बार श्री केनन ने तिब्बत के एक लामा के निमन्त्रण पर अपने स्त्री-बच्चे आदि के साथ वहाँ की यात्रा की थी। उन्हें लामा के मठ पर पहुँचना था, किन्तु मठ के निकट लगभग १५० फिट चौड़ी खाई थी, जिसे पार किये बिना मठ पर पहुँचना सम्भव नहीं था।

श्री केनन खाई के पास पहुँचे तो उसे पार करने की समस्या सामने आई। तभी उन्हें एक लामा दिखाई दिया, जो वहाँ खड़ा था और उन्हें देखते ही उनके पास आ उपस्थित हुआ।

उस लामा ने अभिवादन करके उनसे कहा—'आप अपने स्त्री, बच्चे आदि को समीपस्थ गाँव की धर्मशाला में ठहरने दें और अकेले मेरे साथ मठ में चलें। वहाँ आपको मैं ले चलूँगा।'

उसकी बात मान कर श्री केनन ने अपने स्त्री-बच्चों को निकटस्थ गाँव की धर्मशाला में भेज दिया और स्वयं उस लामा के साथ खाई के अत्यन्त समीप जा पहुँचे।

उन्हें उस लामा की गतियाँ स्वचालित यन्त्र के समान और कुछ विचित्र-सी लगीं, किन्तु वे चुपचाप वहाँ तक जा पहुँचे। तभी उस लामा ने उनसे कहा—"मैं आपको प्राणायाम और शरीर को शिथिल बनाने वाले कुछ ऐसे योग-साधन बताये देता हूँ, जिनके करने से आपका शरीर रुई के समान हल्का हो जायगा और तब आप बादलों के साथ उड़ते हुए, मेरे साथ ही इस खाई को पार कर लेंगे।"

श्री केनन को लामा की बात सुन कर कुछ अधिक आश्चर्य नहीं हुआ। क्योंकि वे भारतीय योगियों की योग-साधनाओं और उनसे प्राप्त

होने वाली आश्चर्यजनक सामर्थ्यों के विषय में पहिले भी बहुत कुछ सुन चुके थे, जिनके द्वारा योगिजनों को अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ तथा अन्यान्य सिद्धियाँ प्राप्त होजाती हैं।

उन्होंने सुना था कि अणिमादि सिद्धियों में प्रथम अणिमा सिद्धि के द्वारा जीव-चेतना अणु के समान होकर कण-कण को खोज लेने में समर्थ है। महिमा सिद्धि के प्रभाव से साधक पर्वत के समान वृहदाकार शरीर धारण कर सकता और असीमित बल से सम्पन्न हो सकता है। गरिमा सिद्धि शरीर को बहुत भारी बना सकती है तो लघिमा सिद्धि रुई के समान हल्का बना देती है। प्राप्ति सिद्धि के प्रभाव से मनुष्य लाखों मील दूर स्थित स्थान और वस्तुओं का स्पर्श कर सकता है। प्राकाम्या सिद्धि साधक की किसी भी कामना को तत्काल पूर्ण कर सकती है।

ईशिता सिद्धि शरीर में विद्यमान चक्रों, कुण्डलिनी शक्ति और मन पर अधिकार करके उनके इच्छानुसार प्रयोग की सामर्थ्य उत्पन्न करती है और वशिता सिद्धि प्राप्त होने पर साधक समस्त पदार्थों और परि-स्थितियों को अपने वश में कर सकता है। इन प्रसिद्ध अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति योग-विद्या द्वारा ही हो सकती है।

मन को संयमित करने के भी अनेक प्रकार और फल हैं। यदि कण्ठ में मन का संयम कर लिया जाय तो अदृश्य ध्वनियाँ सुनाई दे सकती हैं। नेत्र में संयम करने से सुदूर की वस्तुए सहज ही दिखाई देने लगती हैं, नाभि में संयम करने से भूख-प्यास का अभाव हो जाता है। इस प्रकार भारतीय योगी अद्भुत योग-क्रियाओं और प्राणायाम आदि सभी कुछ भले प्रकार जानते हैं। तब क्या तिब्बत में भी यह विद्याएँ इतनी विकसित हैं ?

श्री केनन द्वारा प्रश्न किये जाने पर उस लामा ने कहा कि "एक समय भारतवर्ष से वज्रयान योगी पद्म सम्भव बुद्ध धर्म के प्रचारार्थ

तिब्बत में आये थे और उन्होंने यहाँ उन योग-साधनाओं का प्रचार किया था।"

यद्यपि योग-विद्या भारतवर्ष की अपनी परम-विद्या है, जिसे वे धीरे-धीरे भूलते जा रहे है, किन्तु तिब्बत में आज भी अनेक लामा इस गुह्य आत्मविद्या के जानकार हैं। यही कारण है कि डॉ० लोब-साँग रम्पा जैसे योगज्ञाता अमेरिक आदि देशों तक में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं।

इसके बाद उस लामा ने जो योग-साधन बताये, उन्हें करके श्री केनन ने ज्योंही अपनी आँखें खोलीं, त्योंही वे यह देख कर अत्यन्त आश्चर्य चकित हुए कि वह खाई पार हो चुकी है। वे यह बात अभी तक न समझ सके कि हम कुछ क्षण पहिले ही खाई के उस पार थे, अब इस पार किस प्रकार से आ पहुँचे ?

अब वे उस लामा के साथ चलते हुए मठ में पहुँचे, जहाँ मठाधीश लामा ने उनका स्वागत किया। उस लामा के शरीर के बाहर तीन फिट के घेरे में नीले रंग का एक विचित्र तेज दिखाई देरहा था।

उसके बाद मठाधीश लामा से श्री केनन का बहुत देर तक योग विद्या के विषय में वार्तालाप चलता रहा और तब उस लामा ने उन्हें अनेक योग-विद्या सम्बन्धी चमत्कार भी दिखाये। उस अवसर पर लामा ने यह भी कहा कि यद्यपि योग-विद्या चमत्कार प्रदर्शन की वस्तुतः नहीं है, तथापि आपको दिखाने का उद्देश्य यही है कि आप योग-विद्या के प्रभाव के विषय में लोगों को कुछ जानकारी दे सकें।

त्राटक विद्या और मनोजय

त्राटक विद्या मनोजय का शसक्त साधन है। उसके द्वारा मन की सभी शक्तियों पर विजय पाई जा सकती है और उनका इच्छित प्रयोग भी किया जा सकता है। इस विद्या के प्रभाव से दूसरों के मन की बात भी सहज में ही जान सकते हैं।

श्री केनन ने एक दिन वहाँ एक अत्यन्त विलक्षण घटना देखी—उनके समक्ष कफन में लपेटा हुआ एक मृत शरीर लाकर रखा गया और उसकी परीक्षा करने को कहा गया। उन्होंने उसकी ठीक प्रकार से परीक्षा करके बताया कि 'इसे मरे हुए चौबीस घण्टे से भी अधिक समय बीत चुका है।'

किन्तु तभी मठाधीश लामा ने कोई मन्त्र-सा गुनगुना कर उस शव पर अपनी दृष्टि जमाई और फिर बोला—'उठो भाई! बहुत देर से सोये पड़े हो।'

लामा का यह कहना ही था कि मृतक ने अपनी आँखें खोल दीं और चारों ओर दृष्टि घुमाकर देखने के बाद उठ खड़ा हुआ और फिर जब उसने श्री केनन के पास जाकर अभिवादन किया तब तो उनके आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा, क्योंकि वह वही लामा था जो उनसे योग-साधनाएँ करा करा कर उन्हें खाई के उस पार से इस पार लाया था।

उस समय मठाधीश लामा ने उन्हें बताया कि 'इस मनुष्य को मरे हुए सात वर्ष हो गये तथा अभी इसे सैकड़ों वर्ष तक इसी प्रकार रखा जा सकता है।'

यह सुन कर श्री केनन को और भी अधिक आश्चर्य हुआ। इस बीच उनके मन में जो-जो शंका उत्पन्न हुई, उस-उस शंका को उनके कहने से पहिले ही लामा स्वयं बताता गया और उनके उत्तर भी देता जा रहा था। उन्हें यह भी विस्मय हो रहा था कि लामा उनके मन की सब बातों को किस प्रकार जान लेता है?

मठाधीश लामा ने श्री केनन को त्राटक विद्या सिखाई फिर जब वे वहाँ से लौटने लगे तब मठाधीश लामा ने उन्हें सादर विदा किया। खाई के निकट वही पहिले वाला लामा उन्हें पार पहुँचाने के लिये खड़ा था। उन्होंने ध्यान से उसकी गति-विधियों का निरीक्षण किया तो लगा

वह यन्त्र के समान किसी अन्य शक्ति के संकेत पर ही कार्य कर रहा है। उसकी आँखों की पुतलियाँ भी चल रही हैं।

इससे एकबार तो उनके मन में भय उत्पन्न हुआ कि उनके साथ चलने वाला व्यक्ति जीवित मनुष्य नहीं, वरन् प्राणहीन शव है। किन्तु फिर वे सँभल गये और जान गये उस शव के भीतर स्वयं योगबल सम्पन्न लामा ही है जो वार्तालाप करते हुए चल रहे हैं।

जब भारतवर्ष पर तुर्कों ने आक्रमण किया था, तब इसी प्रकार की सिद्धि के प्रभाव से लीलाव्रज नामक महायोगी ने उनका वह आक्रमण विफल कर दिया था।

आचार्य कमलरक्षित ने यवन सेना पर पूर्ण कुम्भ का प्रयोग किया था, जिसके फलस्वरूप पाँच सौ यवन सैनिक रक्तवमन करते हुए मारे गये थे। यवनों ने इससे रुष्ट होकर विक्रमशिला और नालन्दा में विद्यमान विशाल योग-ग्रन्थागार को पूर्णरूप से भस्म कर डाला, अनेक योगियों की हत्या की और सिद्धपीठ भी नष्ट कर डाले। इसी कुचक्र के बल पर विदेशी सैनिकों ने सरलता से इस देश पर विजय प्राप्त कर ली थी।

लामाओं की त्राटक-सिद्धि-विधि

श्रीकेनन ने लामाओं द्वारा त्राटक-सिद्धि के लिए किये जाने वाले अभ्यास की विधि पर भी कुछ प्रकाश डाला है। उन्होंने लामा से सीखी हुई त्राटक विद्या को ध्यान साधना का ही एक अङ्ग मानते हुए लिखा है कि 'साधना करने वाले लामा लोग इस साधना को सूर्योदय से एक घण्टा पूर्व से आरम्भ कर सूर्योदय होने तक ही करते हैं। वे श्वेत पत्थर, शालग्राम अथवा स्फटिक पाषाण को आँखों की सीध की ऊँचाई पर तथा दो फिट की दूरी पर रखते हैं। वे उसे तब तक टक-

टकी लगाकर देखते रहते हैं, जब तक देखा जाना सम्भव होता है। जब तक आँखें थक न जाँय, तब तक यह अभ्यास निरन्तर चलता रहता है।

जब पत्थर पर दृष्टि की स्थिरता का अभ्यास सिद्ध हो जाता है तब घी का दीपक जलाकर उसकी लौ पर दृष्टि स्थिर करने का अभ्यास किया जाता है। जब दीपक की लौ पर दृष्टि जमाने का अभ्यास दृढ़ हो जाता है तब ठोड़ी को कण्ठचूप (गले में स्थित गड्ढे से) लगाकर नासाग्र पर दृष्टि स्थिर करने का अभ्यास करते हैं।

दूर त्राटक

दूर त्राटक का अभिप्राय दूर की वस्तुओं पर दृष्टि स्थिर करने के अभ्यास से है। मन्दिर के गोल गुम्बज, दूर में विद्यमान पेड़-पौधे तथा चन्द्रमा-तारे आदि पर दृष्टि स्थिर की जाती है। कुछ लोग सूर्य पर दृष्टि स्थिर करने की भी बात कहते हैं, किन्तु यह एक तथ्य है कि सूर्य को स्थिर दृष्टि से देखने का सीधा प्रयास उचित नहीं, अन्यथा आँखें मारी जा सकती हैं।

इन सब बातों का सार यही है कि किसी भी निकटस्थ या दूरस्थ वस्तु पर त्राटक का अभ्यास किया जा सकता है, किन्तु यह ध्यान रखना बहुत आवश्यक है कि जिस वस्तु पर अभ्यास किया जाय, वह आँखों के लिए हानिकारक न हो।

त्राटक की सिद्धि कुछ कठिन नहीं। साधक उसके अभ्यास का निश्चय करले और फिर विश्वास पूर्वक उसकी सिद्धि में जुट जाय। किन्तु जल्दबाजी की आवश्यकता नहीं है, उसे धीरे-धीरे क्रमशः दृढ़ करे तो शीघ्र ही अभीष्ट सफलता मिल सकती है।

मानव शरीर विद्युत का केन्द्र है—एक ऐसा बिजली घर जिसके विषय में मनुष्य को स्वयं ही ज्ञान नहीं है। विद्युत-शक्ति का भण्डार

भरा है शरीर में, किन्तु उपयोग तो वही करेगा जो जानेगा। मान लीजिये कि आप किसी मशीनी कारखाने के स्वामी हैं, उसमें मशीनों में गति देने के लिये विद्युत-मोटर लगी है, उस मोटर में करेंट भी है, किन्तु उससे मशीन को चला वही सकता है, जिसे उसके चलाने का ज्ञान हो।

मानव शरीर में कोई भी अंग या अवयव ऐसा नहीं है, जिनमें विद्युत-प्रवाह न दौड़ता हो। जल-विद्युत के विषय में शायद आपको जानकारी हो—जल कुछ ऊँचाई से चलता हुआ नीचे आकर इस प्रकार घूमता है कि उससे विद्युत उत्पन्न करने वाला यन्त्र गति प्राप्त करता रहे, घूमता रहे। मानव शरीर में स्थान-स्थान पर ऐसे पाइन्ट मौजूद हैं, जो रक्त के प्रवाह से गतिमान होते और बिजली उत्पन्न करते रहते हैं।

यही कारण है कि मानवी विद्युत सभी अंगों को क्रियाशील बनाये रहती है। यदि किसी कारणवश उस विद्युत-प्रवाह में बाधा उत्पन्न हो जाती है तो वह बाधा जिस अंग में उत्पन्न होगी, उसी को बीमार बना देगी।

यदि वह विद्युत प्रवाह किसी कारण विशेष से असाधारण क्षमता वाला होता है तो मनुष्य को विशेष सामर्थ्य से सम्पन्न कर देता है। यदि उस प्रवाह में अधिक असाधारणता होती है तो उसके आश्चर्यजनक परिणाम दिखाई देते हैं।

'टाइम्स' नामक समाचार पत्र में कनाडा के ओंटारियो की एक महिला का वृत्तान्त छपा था, जिसके अनुसार वह महिला डेढ़ वर्ष तक रुग्ण रहने के बाद जब ठीक हुई तब उसके शरीर में विद्युत-धारा बहने लगी। वह जब किसी धातु पात्र आदि का स्पर्श करती, तभी उससे

चिपक जाती। तब उसे बड़ी कठिनाई से उसपात्र से पृथक् किया जाता। उस महिला का नाम कैरोलिन क्लेयर था।

बर्लिन के पास के मिसौरी सिडैलिया नामक गाँव में जेनी मार्गन नाम की चौदह वर्षीया लड़की के शरीर में अचानक ही बिजली का विशेष रूप से संचार होने लगा। एक दिन वह लड़की जल निकालने के लिए ज्योंही हैण्डपम्प चलाने लगी, त्योंही उसके हाथ से स्पार्किङ्ग होने लगा। अपने हाथ से आग की चिंगारियाँ निकलती देखकर लड़की बहुत डरी।

उसके घर वालों ने घटना का विवरण सुनकर यही समझा कि पम्प में किसी प्रकार करेंट आने से स्पार्किङ्ग होने लगा होगा। किन्तु जब उसके साथ ऐसी ही घटना दुबारा घटित हुई तब लड़की की डाक्टरी जाँच कराई गई, जिससे यह सिद्ध हुआ कि लड़की के शरीर में विद्युत की अधिकता है। उसके बाद वह जिसे छू लेती, उसी को विद्युत के झटके का अनुभव होता। इस कारण उसके स्पर्श से सभी दूर रहने लगे।

आयरलैंड की जे० स्मिथ नामक एक युवती का स्पर्श होते ही जोर का झटका लगने लगता था। इससे लोगों को आशंका हुई कि इसमें किसी प्रकार की ट्रिक (छल) न हो। तब डॉ० एस० क्राफ्ट के तत्वावधान में उसकी जाँच की गई तो यह सिद्ध हुआ कि वह उसके शरीर की बिजली ही है।

मेरीलैंड की लइ हैवर्गर नामक एक षोडशी छात्रा की अंगुलियों के अगले भाग में तीव्र चुम्बकीय शक्ति जाग्रत् हो गई। वह लड़की अपने हाथ के पोरुओं से यदि आध इंच मोटी तथा एक फुट लम्बी छड़ का भी स्पर्श करती है तो वह उसके पोरुओं के साथ ही खिंची चली आती।

मानवीय विद्युत का यह प्रवाह हाथ-पाँव की अंगुलियों की ओर अधिक दौड़ता है और इसीलिए विद्वानों की मान्यता है कि शुभ कर्मियों के शुभ आन्तरिक गुण उन स्थानों पर अधिकता से रहते हैं, जिससे उनके चरण स्पर्श करने या अपने सिर पर उनका हाथ स्पर्श कराने का बहुत महत्व माना जाता है। वैसा स्पर्श ही गुरु द्वारा शिष्य में शक्तिपात तक का कारण बन जाता है।

अशुभ कर्मियों में अवगुणों का समावेश रहता है, इसलिये वैसे व्यक्तियों के स्पर्श तक से बचते रहने की प्रथा रही है। 'जैसी संगति वैसा स्वभाव' वाली लोकोक्ति का भी यही अभिप्राय है। अच्छे लोगों की संगति होने पर उनका स्पर्श अच्छा स्वभाव बना देता है, जबकि बुरे लोगों के संग से बुरी आदतें पड़ जाती हैं।

परस्पर के आकर्षण में भी मानवी-विद्युत का यही प्रवाह माध्यम बनता है। यही प्रवाह उभरती हुई अवस्था में शरीर के आकर्षण की भूमिका का निर्माण करता है। उस समय यदि उस विद्युत का सदुपयोग किया जाय तो मनुष्य ओजस्विता, वर्चस्विता और तेजस्विता आदि गुणों का अपने में समुचित रूप से विकास कर सकता है।

इसके विपरीत, यदि इस ऊर्जा का ह्रास होता है तो उससे मनुष्य अपनी सहज शक्ति को गँवा बैठता है। वह ऊर्जा के ह्रास के फलस्वरूप बलहीन, तेजहीन, और बुद्धिहीन हो सकता है। उसमें साहस और स्फूर्ति का भी अभाव हो जाता है।

मानव शरीर में प्राणिज विद्युत के उत्पादनार्थ समुचित साधन और आधार विद्यमान हैं। उसमें ऐसे स्थान भी हैं जहाँ उसका भण्डारण (स्टारेज) हो सके। यही नहीं, शरीर में डायनामा, आर्मेचर, मैगनेट, क्यावल जैसे उपकरण भी अपने ढंग पर मौजूद हैं।

नेत्रों में महती विद्युत-शक्ति

विद्युत के कार्यों में जहाँ गति की प्रमुखता है, वहाँ प्रकाश का भी समावेश है। जैसे बिजली के बल्ब और रौड आदि प्रकाश देते हैं, वैसे ही मानव-विद्युत का प्रकाश नेत्रों में भरा रहता है। वस्तुतः यह प्रकाश सामान्य विद्युत की अपेक्षा कुछ अधिक अद्भुत प्रकार है। विद्वानों ने नेत्रों का सम्बन्ध अग्नि और सूर्य से बताकर यह स्पष्ट कर दिया है कि नेत्रों में दिव्यता भरी हुई है।

नेत्रों को वही दिव्यता आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है। यही कारण है कि त्राटक-सिद्ध योगी में अपनी नेत्र दृष्टि द्वारा ही समस्त संसार को मोहित करने की शक्ति विद्यमान रहती है। वह उसी के बल पर सुदूर में विद्यमान वस्तुओं को लाखों मील दूर बैठा रहकर भी देख सकता है।

शरीरस्थ विद्युत की उत्पत्ति में उसी के अंग-प्रत्यंगों में अनेक उपकरणों के साथ बहुत से रासायनिक पदार्थ भी विद्यमान रहते हैं। यह सब पदार्थ रक्त-संचरण की क्रिया के द्वारा ही क्रियाशील बने रहते हैं।

कोशिकाओं की आन्तरिक रचना में 'माइटो कोण्ड्रिया' नामक एक महत्वपूर्ण आधार है, जिसे कोशिकाओं का भंडार कहा जा सकता है। जब आहार रक्त, मांस, अस्थि आदि में पहुँच कर आगे बढ़ता है, तब इसी संस्थान में पहुँच कर ऊर्जा के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

कोशिकाओं को सक्रिय बनाये रखने में यही ऊर्जा कारण बन जाती है। कुछ विद्वान् इसी ऊर्जा को लघुत्तम प्राण भी कहने लगे हैं। क्योंकि ऊर्जा द्वारा सक्रिय रहती हुई कोशिकाओं की सामूहिक क्रिया जीव-संचालक के रूप में दिखाई देने लगती है।

इसी ऊर्जा का शरीर में एकत्रीकरण महाप्राण कहलाता है। उसी की ब्रह्मांड व्यापी चेतना विश्वप्राण या विराट् प्राण का नाम धारण करती है। यह विराट् प्राण जिस रूप में गतिशील रहता है, उसी रूप में इकाई कोशिकाओं में प्राणांश की लघुत्तम ऊर्जा समाविष्ट रहती है।

यद्यपि इन दोनों में बिन्दु और सिन्धु के समान अन्तर है, तो भी इनमें परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, इसलिए यदि इन्हें समान कहें तो भी कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। क्योंकि यदि कोशिका में प्राणांश के दोनों प्रकार के घटकों का परस्पर में मिलन न हो तो महाप्राण का अस्तित्व ही नहीं बन सकता।

महाप्राण का अस्तित्व ही आहारादि के पाचन में प्रमुख कारण होता है। उसके अभाव में लघु प्राण जैसी विद्युत धारा का ही संचार हो सकता है।

अभी भी कुछ लोग ऐसे देखे जाते हैं, जो हाथ के स्पर्श मात्र से रोगियों को स्वस्थ कर देते हैं। लोग समझते हैं कि वैसा अनुभव रोगी की विश्वास-भावना पर निर्भर है, किन्तु यह समझना अधिक अंश में सही नहीं है। यद्यपि भावना से भी लाभ तो होता है, तो भी हाथ के स्पर्श मात्र से रोग निवृत्ति में एक रहस्य वैसी विशेषता वाले व्यक्तियों का अधिक विद्युत-शक्ति से सम्पन्न होना है। विद्युत का चुम्बकीय प्रभाव ही जिसके शरीर का स्पर्श कर लिया जाय, उसका रोग दूर करने में विशेष कारण हो सकता है।

आपने देखा होगा कि चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है और अपने साथ चिपका लेता है। जिन लोगों में आकर्षण शक्ति की अधिकता दिखाई देती है, उनमें निश्चित रूप से मानवी विद्युत की अधिकता ही समझी जा सकती है।

सामान्यतः तो विद्युत-शक्ति सभी प्राणियों में होती है। छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों से लेकर वृहत्काय हाथी तक वैसी शक्ति से सम्पन्न होते हैं। फिर मनुष्य ही उसका अपवाद कैसे हो सकता है? यह बात दूसरी है कि किसी में उस शक्ति की मात्रा कम हो तो किसी में अधिक। यह भी आवश्यक नहीं कि विद्युत शक्ति की मात्रा सब समय समान ही बनी रहे। वह विभिन्न कारणों से घटती-बढ़ती रह सकती है।

परन्तु, मनुष्य चाहे तो अपने शरीर में विद्युत की मात्रा बढ़ा सकता है। उसके लिए अभ्यास आवश्यक होगा। ऐसा कोई कार्य नहीं, जो अभ्यास के द्वारा सिद्ध न हो सके। आवश्यकता होती है लगन की। यदि लगन उत्कट है तो सफलता दूर नहीं।

शरीर की चुम्बकीय शक्ति को एक स्थान पर सुप्त करके दूसरे स्थान पर प्रकट भी किया जा सकता है। योग-साधनाओं का उद्देश्य शरीर में प्रसुप्त इस शक्ति को अधिक से अधिक मात्रा में बढ़ा लेना रहा है। उनके द्वारा किया जाने वाला अभ्यास बहुत बार अद्भुत चमत्कार का कारण बन जाता है। यदि योगी की प्रवृत्ति उन चमत्कारों के प्रदर्शन में न रहे तो वह उत्तरोत्तर अपनी प्रगति करता रह सकता है। क्योंकि चमत्कार प्रदर्शन आत्मोत्थान की दिशा में बाधा स्वरूप सिद्ध होता है। महर्षि पतंजलि स्पष्ट रूप में कहते हैं—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

अर्थात्—वे सिद्धियाँ समाधि की सिद्धि में उपसर्ग रूप हैं। क्योंकि उन सिद्धियों में हर्ष, गौरव आदि के रूप में चमत्कार भरा रहता है चमत्कार से अहङ्कार की उत्पत्ति हो जाती है। जब साधक सिद्ध बन जाता है और उसकी प्रवृत्ति चमत्कार प्रदर्शन में होती है तब समझता है कि यह विशेषता मुझ में ही है, मैं ही इसे कर सकता हूँ, दूसरा कोई नहीं कर सकता।

उसके अहङ्कार में उस समय और भी अधिक वृद्धि हो जाती है। जब चमत्कार देखने वाले लोग उसकी प्रशंसा करने लगते हैं। फिर उसकी वही दशा होती है, जो किसी निर्धन मनुष्य की थोड़ा धन पा लेने पर हो जाती है। वह मनुष्य उतने ही धन में सन्तुष्ट हो जाता है और आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं करता।

इसीलिये परमानन्द मोक्ष के अभिलाषी योगीजन इन सिद्धियों का त्याग कर देते हैं और सदैव आत्मोत्थान के प्रयत्न में ही लगे रहते हैं।

स्पष्ट है कि ईर्ष्या-द्वेष, लोभ, मोह, तृष्णा-वासना आदि को छोड़-कर और किसी निरर्थक प्रपंच में न पड़कर उत्तरोत्तर साधनाभ्यास में लगे रहने से मनुष्य अपनी प्रसुप्त शक्तियों को जाग्रत् करने में शीघ्र सफल हो सकता है। इसलिए आत्मोत्थान के इच्छुक व्यक्तियों को साधना का आश्रय लेना चाहिये। यह आवश्यक नहीं कि दिन-रात्रि निरन्तर किसी कठिन तपस्या में ही लगे रहें, वरन् केवल कुछ घण्टों का अभ्यास ही सफलता प्राप्ति के लिए पर्याप्त रहता है। यही बात त्राटक योग के साधकों के लिए हितकर हो सकती है। वस्तुतः त्राटक योग आत्मा और मन को सुख-शान्ति प्राप्त कराने में पूर्णरूप से सहायक सिद्ध होता है।

—*—

नाटक द्वारा बिखरी शक्तियों का संगठन

मानसिक तनाव और उस पर नियन्त्रण

यह तनावों का युग है। महत्वाकांक्षाएँ इतनी बढ़ गई हैं कि उनकी पूर्ति न हो सकने के कारण तनाव बढ़ता जाता है। मनुष्य स्पर्द्धा में मतवाला हो रहा है। जिनके पास वैभव की अधिकता है, वे उनके प्रदर्शन में लगे हैं। जिनके पास नहीं है या कम है, वे अधिक वैभव वालों के समकक्ष होना चाहते हैं।

क्यों हो रहा है यह सब ? मनुष्य स्वयं ही इतने तनावों को क्यों सँजोये हुए है ? क्या कोई वैभव आत्म-विकास का साधन हो सकता है? इस प्रश्न पर न कोई विचार करना चाहता है और न किसी को समय है उसकी ओर ध्यान देने के लिये।

गृहस्थों की कौन कहे ? साधु-संन्यासी या संत-महन्त कहलाने वाले विवेकशील व्यक्ति भी वैभव-प्रदर्शन की होड में आगे बढ़ जाना चाहते हैं। यद्यपि जानते सभी हैं कि वैभव हमारे आत्मलाभ में बाधक हैं। मनुष्य में जब तक वैभव और भौतिक तृप्ति की चाह रहेगी तब तक वास्तविक सुख शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता।

इस विषय पर अधिककुछ विचार करनेसे पूर्व इस तथ्यको समझना होगा कि वैभव किसे कहते हैं ? वैभव का अभिप्राय उस सुख-सामग्री से है जो मनुष्य को सुखी जीवन व्यतीत करने में सहायक हो सकती है। सुन्दर भवन, साज-सामान, आरामदायक विभिन्न वस्तुएँ, सुन्दर, स्त्री,

धन, सन्तान, दास-दासियाँ, वाहन, बाग-बगीचे आदि वैभव के अन्तर्गत ही आते हैं।

आज का मनुष्य चाहता है कि यह सब आवश्यकता से भी अधिक जुट जाय मेरे पास। इतना अधिक कि दूसरे लोग मेरी समानता न कर सकें। मेरे वैभव की ख्याति सर्वत्र फैल जाय। मेरा वैभव विश्व में मेरी प्रतिष्ठा बढ़ाने में भी सहायक हो।

और, इस चाहना के साथ उत्तरोत्तर वैभव-वृद्धि का ही प्रयत्न रहता है। न्याय-अन्याय, सच-झूठ, छल-कपट की भी कुछ परवाह नहीं, होना चाहिये वैभव। वैभव का आकांक्षी पाप-पुण्य को समान समझता है। किसी का गला कटता है तो कटे उसे वैभव चाहिए। किसी की आत्मा दुखती है तो दुखे, उसे अपने सुख को बलिदान नहीं करना है दूसरे की आत्म तुष्टि पर।

निन्यानवे का फेर

शास्त्र कहता है कि सत्य और न्याय के आश्रय से जीविकोपार्जन करो। धन कमाओ अवश्य किन्तु धर्म-पूर्वक। भौतिक सुख के साधन जुटाने का निषेध करता है तो अधर्म पूर्वक जुटाने का। परन्तु महत्वाकांक्षा शास्त्र की बात नहीं सुनना चाहती। वह नहीं मानती शास्त्र को सर्वोपरि।

यदि मनुष्य अपनी आवश्यकता-पूर्ति मात्र के उद्देश्य से धन-संचय करना चाहे तो शायद उसे छल-कपट आदि का सहारा न लेना पड़े। क्योंकि उतना उपार्जन सरलता से हो सकता है। किन्तु उतने से सन्तोष करने वाले बहुत कम हैं। अधिकांश व्यक्ति सोचते हैं कि धन में वृद्धि होनी चाहिये। आज एक रुपया फालतू है तो उसके पाँच होजाँय। जब पाँच हो गये तब दस की इच्छा हुई। दस से बीस, तीस, चालीस, पचास आदि की आकांक्षा का आविर्भाव हुआ।

इस प्रकार धन-वृद्धि की कामना, जो आरम्भ में एक से पाँच होने तक सीमित थी, निन्यानवे पर भी नहीं रह सकती। मनुष्य सोचता है कि निन्यानवे हुए हैं तो सौ तो हो जाने चाहिए। इस स्थिति को लोक भाषा में कहते हैं—'निन्यानवे का फेर।' निन्यानवे का यह फेर कभी रुकता नहीं। निन्यानवे के नौ सौ निन्यानवे तक पहुँच जाने पर भी उसमें एक वृद्धि अपेक्षित रहती है—किसी प्रकार हजार तो हो ही जाँय।

हजार क्या, नौ हजार नौ सौ निन्यानवे हो जाँय तो दस हजार की ओर निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे हो जाँय तो एक लाख होने की आकांक्षा रहती है। एक-एक कर बढ़ता हुआ धन लाखों, करोड़ों तो क्या, अरबों-खरबों तक भी पहुँच जाय तो भी निन्यानवे का फेर कभी शान्त नहीं होना चाहता।

परन्तु निन्यानवे के इस फेर की उत्पत्ति कहाँ से हुई? धर्मशास्त्र तो क्या अर्थशास्त्र ने भी ऐसा निर्देश नहीं दिया कि छल, कपट, झूँठ, चोरी, अन्याय, अनाचार आदि का आश्रय लिए हुए ही पड़े रहो निन्यानवे के फेर में। तब, तब मनुष्य किस प्रकार से पड़ गया इस प्रपंच में?

महत्वाकांक्षाओं ने जन्म दिया है इस प्रपंच को। कार, कोठी, दास-दासी आदि ठाठ-बाट के साथ रहने की इच्छा है तो उसकी पूर्ति के लिए अतिरिक्त धन की अपेक्षा होगी ही और अतिरिक्त धन चाहिए तो छल-कपट आदि के रूप में पाप का सहारा लेना ही पड़ेगा। बहुत से धनिक गरीबों का गला काटकर अपने निन्यानवे के फेर को पूरा कर सके हैं। कोई धर्म के नाम पर दुकान चलाता है तो कोई दान देने के बहाने ही व्यय से अधिक धन जुटा लेता है। कोई बेईमानी करके धरोहर मारने की चेष्टा करता है तो कोई कर-चोरी के प्रयत्न में लगा

रहता है। तात्पर्य यह कि जैसे भी हो धन बचाया और जुटाया जाय।

उन महत्वाकांक्षाओं के पीछे ईर्ष्या भी रहती है। दूसरा इतना बढ़ा है तो हम भी उतने बढ़ें। उसके पास कार-कोठी हैं तो हमारे पास भी क्यों न हो? आत्मा कहती है कि उसमें पाप भरा है, मत करो वैसा पाप-कर्म, किन्तु मन है कि वह आत्मा की भी नहीं सुनता। सोचता है—दूसरे कह रहे हैं तो तुम ही उसे पाप क्यों समझते हो? यदि पाप ही हो उसमें तो इतने ढेर सारे लोग उसे क्यों करें? फिर पाप हो भी तो कोई बात नहीं, इस जीवन को तो सुखपूर्वक चलालें, अगला जन्म किसने देखा है?

और इन महत्वाकांक्षाओं की पृष्ठभूमि में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, यह पाँच दस्यु भी प्रमुख रूप से भाग लेते है। किसी इच्छित स्त्री की प्राप्ति और साथ भोग सम्पर्क बनाये रखने के लिए धन चाहिये। बहुत सी स्त्रियाँ वैभववन्त को ही पसन्द करती हैं, उन्हें वश में करने के लिए अल्प धन से काम नहीं चल सकता।

किसी पर क्रोध है, इच्छा होती है कि उसे नष्ट किया जाय अथवा नीचा दिखाया जाय या किसी के द्वारा होने वाले अपमान का प्रतिशोध लिया जाय, तो उसके लिये भी धन की अपेक्षा होगी ही। युद्ध अथवा न्यायालय में मुकदमा आदि भी धनाभाव में अपने प्रतिकूल जा सकता है।

इसी प्रकार लोभ, मोह अहङ्कारादि सभी में धन की आवश्यकता रहती है। मान प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए भी धन चाहिए। वैभवशाली व्यक्तियों की प्रतिष्ठा तो स्वाभाविक रूप से वैसे ही बनी रहती है।

परन्तु यह सभी कुछ प्रपंच है। ऐसा प्रपंच जो मनुष्य को विश्व-प्रपंच में फँसाये रखता है। इसके कारण न तो कभी आत्मोत्थान हो सकता है और न जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है।

समस्त प्रपंचों का कारण मन

और इस प्रपंच का प्रमुख कारण है मन जो आत्मा की आवाज नहीं सुनता और महत्वाकांक्षाओं को बढ़ाये जाता है। विद्वानों का मत है कि जब तक महत्वाकांक्षाएँ रहेंगी, मनुष्य विवेक को भूले रहता है। वह नहीं समझता कि महत्वाकांक्षाएँ ही तनाव को उत्पन्न करती हैं और वे ही चौरासी के चक्कर में प्रमुख कारण होती हैं।

यदि विवेक जाग्रत् होता है तो वह भौतिक वैभव की तुच्छता का ज्ञान करा देता है। विवेकी मनुष्य यदि कुछ कामना करता भी है तो दिव्य वैभव की। उस दिव्य वैभव की जिसे ऐश्वर्य कहते हैं। यदि मनुष्य को ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाय तो उसकी समानता कोई नहीं कर सकता। क्योंकि देवता भी ऐश्वर्य की कामना करते रहते हैं।

ऐश्वर्य क्या है? यह भी समझ लेना चाहिये। ऐश्वर्य वह है, जिसके बल पर साधक असम्भव को भी सम्भव बनाने में समर्थ होता है। अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ तथा अन्यान्य समस्त सिद्धियाँ उसी ऐश्वर्य की अंगभूता है।

ऐश्वर्यवन्त मनुष्य क्या नहीं कर सकता? जो कार्य सांसारिक वैभव द्वारा सिद्ध नहीं हो सकते, वे ऐश्वर्य के द्वारा सहज ही सिद्ध नहीं हो जाते हैं। इसलिये तो ऐश्वर्यशाली साधु-संन्यासियों की सेवा में बड़े बड़े वैभवशाली खड़े रह कर उनक आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहते है।

यद्यपि ऐश्वर्य सांसारिक सुख का साधन नहीं है, क्योंकि सांसारिक सुख ऐश्वर्य के समक्ष अत्यन्त तुच्छ है। कोई भी ऐश्वर्य-सम्पन्न मनुष्य

सांसारिक सुख की चाह नहीं करता यदि कोई करे भी तो उसका ऐश्वर्य धीरे-धीरे घटता चला जायगा।

कुछ सिद्ध पुरुषों के विषय में सुना गया है कि उनकी सिद्धि कुछ ही समय तक टिकी रही। एक सिद्ध थे, जिनके पास चमत्कार था और उसके कारण उनके पास भक्तों की भीड़ लगी रहती थी। बाद में एक दिन वह आया कि उनके पास कोई झाँकता भी न था। भीख माँग-माँग कर खाने पर भी दिन कठिनाई से कटते थे।

उसका कारण पता करने पर ज्ञात हुआ कि उन्होंने अपनी सिद्धि के चमत्कार-प्रदर्शन द्वारा लोगों को आकर्षित कर रखा था। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की अधिक भीड़ उनके पास लगती थी। उसके फल स्वरूप उनकी साधना में तो विघ्न पड़ा ही, कंचन और कामिनी का सुयोग रूप भोग भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होगया, जिससे संचित ऐश्वर्य भी समाप्त होता चला गया।

यही कारण है कि आत्म-विकास के अभिलाषियों और मुमुक्षुओं को सिद्धियों के प्रदर्शन का निषेध किया गया है। ऐसे साधकों को तो लोगों की भीड़ से भी बचना चाहिये। यदि वे ऐसा नहीं करते तो अपने लक्ष्य से गिर सकते हैं।

इस प्रकार, वैभव के दो भेद हैं—भौतिक और दिव्य। दिव्य वैभव को एश्वर्य भी कहते हैं। प्रथम प्रकार का वैभव समस्त दुःखों का साधन है, क्योंकि उसके द्वारा मन भोगों की ओर आकर्षित होता है। इसलिए वही मनुष्यों के जन्म-मरण रूप बन्धन का मुख्य कारण है।

दूसरे प्रकार का वैभव—ऐश्वर्य साधक की आत्मोन्नति का प्रमुख साधन है। इसके द्वारा मन की चंचलता दूर हो जाती है और आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। भगवत्साक्षात्कार तथा मोक्ष की प्राप्ति में यही

साधनभूत होती है। मनुष्यों के जन्म-मरण रूप बन्धन से इसी के द्वारा छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है।

अब प्रश्न यह है कि वैभव की ओर से निवृत्ति और ऐश्वर्य की ओर प्रवृत्ति किस प्रकार हो? मन को उन निरर्थक महत्वाकांक्षाओं से पृथक् करने में कौन-से साधन का प्रयोग किया जाय? वर्तमान समय में उत्पन्न होने वाले तनावों को किस प्रकार मिटाया जाय?

इस सब के लिये आवश्यक है मन को किसी ऐसे विषय की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न जो आत्म-कल्याण के लिये हितकर हो, शरीर के लिये नहीं। जो प्रयत्न शरीर के लिये भौतिक सुख देने वाला होगा, वह आत्मा के लिये कभी भी हितकर नहीं हो सकता।

मन द्वारा नित्य नवीन रचना

मन के ताने-बाने बुनने के ढंग से तो आप परिचित होंगे ही। यदि शेखचिल्ली की कहानी आपने पढ़ी हो तो आप सहज ही समझ लेंगे कि मन ही वैसी कहानियों का प्रमुख कारण है। क्योंकि मन कभी खाली नहीं बैठता, वरन् उठते बैठते, सोते जागते, खाते-पीते, चलते-फिरते हर समय नवीन से नवीन संसार की रचना करता रहता है। यदि ध्यान से देखें तो प्रतीत होगा मन सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा की रचना से भी अधिक बढ़ी-चढ़ी रचना करने में समर्थ है।

मन की उड़ान इतनी तीव्र है कि कोई अच्छे से अच्छा वायुयान भी वैसी उड़ान नहीं भर सकता। परन्तु मन एक समय में एक से अधिक कार्य नहीं कर सकता। मन की वृत्ति किसी एक ओर आँखें कोई दूसरा दृश्य देख रही हैं तो वृत्ति-रहित होने के कारण आँखें अपने समक्ष उपस्थित दृश्य को भी नहीं देख सकतीं। यदि मन दृश्य देखने में लगा है तो कान कितने ही तीव्र क्यों न हों, मन की वृत्ति से भिन्न बात नहीं सुन सकते।

न्याय दर्शन का मत है—'युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्' अर्थात् 'एक समय में एक कार्य ही करना मन का लक्षण है।' यदि हम चाहें तो उसे अपनी इच्छा के अनुसार किसी एक ही कार्य में प्रयुक्त कर सकते हैं।

इसलिये हम क्यों न अपने मन का सदुपयोग करें ? उसे क्यों न ऐसे कार्य में लगा दें जो हमारी आत्मा के लिये कल्याणकारी हो सके ? यदि हम उसे कल्याणकारी संकल्पों वाला बनाने में सफल हो जाँय तो अपना जीवन सफल बना सकते हैं। वेद का निर्देश है—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभिशुभिर्वाजिन इव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अर्थात्—जो मन रूप श्रेष्ठ सारथी मनुष्यों को अश्वों के समान इधर-उधर ले जाता है तथा जो वेगवान् अश्वों को सुदृढ़ लगाम द्वारा वश में रखने के समान ही मनुष्यों को वश में रखता हुआ हृदय में विद्यमान है तथा जो जरा रहित और जविष्ठ (अत्यन्त गमनशील) है, वह मेरा मन कल्याणमय संकल्पों से सम्पन्न हो।

मन की पाँच भूमिकाएँ

आचार्यों ने मन की पाँच भूमियाँ बताई हैं—(१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र, और (५) निरुद्ध। इनमें से प्रथम (क्षिप्त) अवस्था वह है जिसमें मन अत्यन्त चंचल रहता और मनुष्य को सर्वत्र नचाता रहता है। यह अवस्था मन के रजोगुण-सम्पन्न होने की सूचक है।

मूढ़ावस्था में मनुष्य मोहित और ज्ञान से रहित होता है। वह मन की तामसिक अवस्था है, जिसमें मन में न तो किसी प्रकार की क्रियाशीलता उत्पन्न होती और न ज्ञान का ही उदय होता है। इसे मोहितावस्था भी कहते हैं।

मन की विक्षिप्तावस्था में राजसिक और तामसिक दोनों अवस्थाओं का समावेश रहता है। इस स्थिति में मनुष्य उन्मत्त के समान दिखाई देता है।

मन की एकाग्रावस्था ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाली होती है। इसमें मन विषयों से विमुख होकर संयमित रहता है, उसकी चंचलता मिट जाती है। इस अवस्था में सतोगुण का अधिक समावेश रहता है।

मन की निरुद्ध अवस्था अत्युच्च भूमिका वाली होती है। इसमें मन अपने आराध्य में पूर्णरूप से समर्पित हो जाता है जिसके फलस्वरूप साधक को अपना भी होश नहीं रहता। इसमें समाधि की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह अवस्था पूर्ण रूप से सतोगुण से सम्पन्न रहती है।

मनुष्य मन के द्वारा जैसा विचार करता है वैसा ही अनुभव कर सकता है। यदि वह यह मान बैठे कि मैं अस्वस्थ हूं तो वह अस्वस्थ हो जाता है। एक उदाहरण है क्षय के रोगी का। बेचारा ज्वरादि से पीड़ित था, चिकित्सा चल रही थी। कमजोरी अधिक बढ़ने पर डाक्टर ने परामर्श दि। क्षय-विशेषज्ञ से जाँच कराने का रोगी को क्षयविशेषज्ञ के पास ले जाया गया तो परीक्षण करने पर उसने 'क्षय' होना कह दिया और भरती करने का आदेश दिया। किन्तु क्षय-विशेषज्ञ द्वारा क्षय कायम किया जाने पर उसके मन पर ऐसा सदमा बैठा कि बेचारा उसी दिन अपने प्राण गँवा बैठा।

एक सर्वेक्षण-रिपोर्ट के अनुसार यह मान्यता बनी कि सर्प-दंश से मरने वाले व्यक्तियों में अधिक संख्या उनकी होती है, जो सर्प-विष से नहीं मरते, वरन् सर्प-विष की भ्रान्ति से ही मरते हैं। इससे सिद्ध हैं कि मन जो निश्चय करता है, वही परिणाम रूप से प्रत्यक्ष होता है।

यदि मन समझले कि मैं स्वस्थ हूं, सुखी हूं तो मनुष्य अस्वस्थ या दुःखी नहीं होता। इसीलिये विद्वानों का मत है कि मन को काम, क्रोध,

शोक, मोह आदि से दूर रखना चाहिये। इसी से शाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है।

शाश्वत सुख की प्राप्ति का एक ही उपाय है—मन को सांसारिक वासनाओं, वितर्कों से दूर किया जाय। यदि उसे इन्द्रियों के भोगों से विमुख कर लिया जाय तो उसकी चंचलता सहज में ही दूर की जा सकती है।

मन को जिधर मोड़ना चाहोगे उधर ही मुड़ जायगा, जिधर चलाओगे उधर ही चलने लगेगा। कुछ लोग असफल हो जाते हैं उस पर नियन्त्रण प्राप्त करने में। किन्तु उनकी वह असफलता भी मन की सबलता के कारण ही है। उनका प्रयत्न जब कम रहता है तब मन भी अपनी उच्छृंखलता का त्याग नहीं करता। वही असफलता का मुख्य कारण होता है।

मन को वश में करने के लिये अभ्यास करना चाहिए। यदि कोई धरती से छत पर चढ़ने की इच्छा वाला मनुष्य नीचे की सीढ़ी पर एक पैर रख कर दूसरा पैर सब से ऊपर की सीढ़ी पर रखना चाहे तो नहीं रख सकता। उसे छत पर पहुँचने के लिये प्रत्येक सीढ़ी पर पाँव रखना होगा।

स्वामी विवेकानन्द ने मन को वश में करने का एक उपाय बताया है—'इस संसार में जो सत्य है उसके दर्शन करने का प्रयत्न। क्योंकि सत्य के दर्शन से ही मनुष्य जितेन्द्रिय है।'

संसार में जो कुछ दिखाई देता है, वह असत्य है, नाशवान है। मन के लिए उसमें बड़ा भारी आकर्षण भरा पड़ा है। इसलिये वह उसी दृश्य पदार्थ की ओर दौड़ता है। जो आकर्षक है वही प्रिय लगता है उसे। अनाकर्षक की ओर देखना भी नहीं चाहता, क्योंकि आकर्षक को ही सुखदायक समझता है।

किन्तु संसार का कोई भी दृश्य या आकर्षक पदार्थ आध्यात्मिक पक्ष में सुखदायक नहीं हो सकता। भौतिक पक्ष में जो सुख देने वाला है, आध्यात्मिक पक्ष में वही दुःखदायक है। यदि हम दुःखदायक को सुखदायक मानने की भ्रान्ति में न पड़ें तो निश्चय ही हम अपने मन को शुभ संकल्प वाला बना सकते हैं।

मनुष्य की समस्त मानसिक अशान्ति और तनाव का एक ही मुख्य कारण है आत्मा का अनात्मा से एकत्व भाव। यही भाव अहं-त्वं आदि की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। शंकराचार्य जी की भी मान्यता है कि जो स्वयं को शरीर से एकीभाव रखता है वही इन्द्रियजनित सुखों के लिये लालायित रहता है। किन्तु इस देहाध्यास के नष्ट होने पर इन्द्रिय-सुख की ललक दूर हो जाती है।

साधन चतुष्टय से मनोजय

वेदान्त का मत है कि साधन-चतुष्टय का अभ्यास करो, उससे मनोजय की समस्या का समाधान स्वतः सम्भव होता हैं। उन साधन चतुष्टय पर भी एक बार दृष्टिपात करलें—(१) नित्या-नित्य वस्तु विवेक (२) इहामुत्र अर्थफल भोग विराग, (३) शम-दम उपरति तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा, और (४) मुमुक्षा।

इनमें प्रथम का अर्थ तो स्पष्ट ही है, फिर भी इस प्रकार समझिये कि कौन-सी वस्तु नित्य है, कौन-सी अनित्य? इसका ज्ञान होना मनो-जय का एक उपाय है। मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि नित्य वस्तु ही हितकर हो सकती है, अनित्य वस्तु कभी भी हितकर नहीं हो सकती। मन में यह बात बैठ जाय तो वह चंचलता-रहित होने का सुयोग प्राप्त कर सकता है।

दूसरे साधन इह-अमुत्र-अर्थफल-भोग-विराग का अर्थ है इस लोक और परलोक में कर्मफल के भोग का त्याग कर देना। मनुष्य जो कुछ

जर्म करे उसके फल पर अपना अधिकार न समझले, उसे भगवान् के लिए समर्पित कर दे यह एहिलौकिक कर्मफल के भोग का त्याग हुआ। अब परलोक में कर्मफल का त्याग क्या है ? उसे भी समझ लीजिये बहुत-से साधक स्वर्ग की कामना से ही कर्म करते हैं, बहुत-से स्वर्ग को भी तुच्छ समझते हुए परमपद चाहते हैं, बहुत-से किसी भी पद को नहीं चाहते। तीसरे प्रकार के व्यक्तियों को न तो स्वर्ग की चाहना है, न वैकुण्ठ की, न शिवलोक की, वे तो केवल मोक्ष चाहते हैं, जिससे कि ब्रह्म में जा मिलें और आवागमन के चक्र से छूट जाँय। यदि इसी भावना से साधनादि कर्म किये जाँय और उनके फल की कामना न की जाय, यह परलोक मे कर्म फल भोग के प्रति वैराग्य भाव हुआ। भगवान् भी गीता में निर्देश देते हैं—

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अर्थात्—'सभी धर्मों को छोड़ कर एक मात्र मेरी शरण में आ' तथा—

यस्य सर्वे समारम्भाः काम संकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।

अर्थात्—जिसके समस्त कार्य कामना और संकल्प से रहित हैं, उस ज्ञान रूप अग्नि द्वारा दग्ध हुए कर्मों वाले पुरुष को ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं।

दूसरे साधन का अभिप्राय स्पष्ट है—इस लोक और परलोक विषयक कर्मों के फल-भोग के प्रति वैराग्य, इसी को ज्ञानीजन कर्म-संन्यास कहते हैं। गीता ने इसी को निष्काम कर्म योग की संज्ञा दी है।

तीसरा साधन है शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा। इन छः कर्मों का अभ्यास करना षट्-सम्पत्ति कहलाता है। यह कर्म अष्टांग योग के यम-नियम नामक अंगों में भी समादिष्ट है। यह साधन मानसिक

शुद्धि के लिये अत्यन्त हितकर माने जाते हैं। शम-दम के सम्बन्ध में स्वामी शिवानन्दजी का कहना है—

"Same is an internal restraint. Dama is a restraint of the Indriyas. Thoug the practice of Sama includes the practice of Dama, as the indriyas will not move and work without the help of the mind. yet the practice of Dama is necessary"

अर्थात् शम एक आन्तरिक निरोधक है और दम इन्द्रियों का निरोधक है। यद्यपि शम के अभ्यास में ही दम का अभ्यास सम्मिलित है, तथापि मन की सहायता के बिना इन्द्रियाँ तब तक अधिक गतिशील और क्रियाशील नहीं रहतीं, जब तक कि दम का अभ्यास अपेक्षाकृत रूप से न किया जाता रहे।

उपरति आदि साधन भी मन को इन्द्रियों के भोगों से विमुख करके ध्येय के प्रति उन्मुख करने वाले हैं। इसीलिए इन सब साधनों को आवश्यक माना जाता है।

चौथा साधन है—मुमुक्षा। मुमुक्षा का अर्थ है मोक्ष की इच्छा। यदि यह इच्छा उत्पन्न हो जाती है तो साधक उसके लिये प्रयत्न करता ही है और जो मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होगा उसका मन इन्द्रिय जन्य सुख से विरक्त होना ही चाहेगा। इस प्रकार साधन चतुष्टय के द्वारा मनुष्य मनोजय के प्रयत्न में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकता है।

जो लोग विषयों में आसक्त हैं, वे भोग्य-वस्तु के अभाव को दुःख रूप मानते हैं, इसलिये उनकी प्राप्ति के लिये सदा ही प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु लौकिक सुख दुःख तो भ्रान्ति मात्र हैं। मनुष्य के मन की उपज हैं सुख और दुःख दोनों। न तो इन्द्रिय की तृप्ति सुख है, न अतृप्ति दुःख। शंकराचार्यजी ने भी दुःखानुभूति को मन का ही विकार माना है। वे कहते हैं —

विक्षेपशक्ती रजसः क्रियात्मिका
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।
रागादयोऽस्याः प्रभवन्ति नित्यं
दुःखादयो मनसो विकाराः ।।

विक्षेपशक्ति रजोमयी और क्रियात्मिका है । उसी से संसार की प्रवृत्ति हुई है । रागादि तथा दुःखादि की मान्यता मन के विकार रूप में हैं, जिनका उद्भव उसी (विक्षेप शक्ति) से नित्यप्रति होता रहता है ।

संसार भर के मनुष्य नित्य प्रति राग-द्वेष के चक्कर में पड़े रहते है और स्वयं ही उसमें सुख:दुख की मान्यता करते हैं । वे समस्त वस्तुओं और कार्यों का मूल्यांकन करते तथा जिसे अधिक मूल्यवान समझते हैं, उसी के प्रयत्न में लग जाते हैं । परन्तु किसका मूल्यांकन कितने प्रतिशत सही है, इसका निर्णय कौन करे ?

वस्तुतः वस्तुओं का मूल्यांकन बुद्धि का विषय है । जिसने जिस वस्तु को बौद्धिक दृष्टिकोण से देखा उसी की श्रेष्ठता निकृष्टता का निर्णय कर सका । किन्तु बुद्धि भी सभी की समान नहीं होती । वह भी सत्, रज, तम में से किसी एक या मिश्रित गुण से सम्पन्न हो सकती हैं । यदि बुद्धि सतोगुणी है तो उसके द्वारा किया हुआ मूल्यांकन उत्तम कोटि का होगा । रजोगुणी बुद्धि के द्वारा मध्यम प्रकार का और तमोगुणी बुद्धि के द्वारा निकृष्ट श्रेणी का होता है ।

इससे स्पष्ट है कि बौद्धिक विचार के द्वारा ही मनुष्य किसी सही निश्चय पर पहुँच सकता है । विवेक पूर्ण बुद्धि जो निश्चय करे अध्यात्म-पक्ष में वही हितकर है । बुद्धि में जितना अधिक विवेक होगा, उतनी ही क्षमता बढ़ी हुई होगी ।

मन की तीन शक्तियाँ

विवेक बुद्धि के जाग्रत् होने पर मन अधिक चैतन्य हो जाता है। उसकी स्थूलता कम होती जाती है। साधन चतुष्टय इस कार्य में पूर्ण सहयोग देता है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि मन में तीन शक्तियाँ समाविष्ट हैं—संचय, संप्रयोजनत्व और सम्बद्धत्व। यह तीनों शक्तियाँ बड़ी बलवती हैं। मनुष्य के उत्थान-पतन से इनका भी पर्याप्त हाथ रह सकता है।

संचय शक्ति का कार्य मनुष्य के अनुभवों के संस्कारों को संचित करना है। जो संस्कार बचे रहते हैं उस भण्डार में उनके द्वारा हमारा आचरण भी प्रभावित होता रहता है। इसी शक्ति की वृद्धि से स्मृति की भी वृद्धि होती है। किन्तु संचयशक्ति की विद्यमानता तो प्राणिमात्र में है, जबकि स्मृति की उनमें कमी रहती है।

स्मृति विशेष रूप से मनुष्यों में मिलती है। मनुष्य-जीवन में उसका महत्व भी अधिक है, क्योंकि ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्य आदि का आधार स्मृति ही है। अनुपस्थित व्यक्तियों और व्यतीत हुई घटनाओं का ध्यान रहना स्मृति पर ही निर्भर करता है।

समस्त बौद्धिक क्रियाओं का आधार भी स्मृति ही है और स्मृति क्योंकि मन की एक शक्ति है, इसलिए मन ही बुद्धि और उसके कार्यों का उत्पन्न करने वाला हो सकता है।

दूसरी ओर तीसरी शक्ति में प्रयोजन और कार्य की सम्बद्धता रहती है। प्रयोजन के बिना भी कोई कार्य नहीं होता और न असम्बद्ध कार्यों में ही रुचि हो सकती है। यह दोनों शक्तियाँ मन को इन विषयों में भी सचेत और क्रियाशील रखती है।

शास्त्रों ने मन की बड़ी महिमा गाई है। वेद ने कहा है—'यज्ज्यो-तिरन्तररमृतं प्रजासु' अर्थात् 'जो प्रजाओं में ज्योति निरन्तर (नाश-

रहित) है। समस्त कार्यों को प्रकाशित करने वाला होने से ज्योति स्वरूप हैं।' जिस मन का ऐसा स्वरूप हैं, उसकी प्रबलता का अनुमान किया जाना कुछ कठिन कार्य नहीं है।

विचित्र शक्तियाँ भरी पड़ी हैं इस मन में। मनोवैज्ञानिक भी शायद उन सब के विषय में अनभिज्ञ हों। अथर्ववेद का कहना है—

कामस्तदग्र समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
स काम कामेन वृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥

अर्थात् सर्व प्रथम कामना (संकल्प) की उत्पत्ति होती है जो कि मन का प्रथम सार तत्व है। वही कामना बार-बार उठी हुई कामना के साथ मन में संचित होती हुई यजमान स्वरूप आत्मा को ऐश्वर्य, स्वास्थ्य और शक्ति प्राप्त कराती है।

परन्तु मन की शक्तियाँ बिखरी हुई रहती हैं, इसीलिए उसमें संकल्प की दृढ़ता नहीं होती। जो कामनाएँ की जाती हैं, उनकी उपलब्धि योग्य क्षमता का अभाव रहने के कारण ही बहुत-से कार्यों में सफलता नहीं मिल पाती। यदि मनुष्य मन की बिखरी हुई उन शक्तियों को एकत्र करके उनको अपने किसी भी बड़े से बड़े कार्य में सहायक बनावे तो सफलता मिलना किसी प्रकार कठिन नही हो सकता।

मन की बिखरी हुई शक्तियों को संगठित करने के अनेक उपाय कहे जाते हैं। योगीजन मुख्य उपाय योग वर्णित ध्यान को मानते हैं तो भक्तजन भक्ति को और जापक जप को। सभी अपने-अपने ढँग पर उपाय बताते हैं, किन्तु ढँग में अन्तर होते हुए भी सब में ध्यान की ही प्रमुखता दिखाई देती है।

त्राटक भी ध्यान का ही एक रूप है। उसके अभ्यास से मन की बिखरी हुई शक्तियों को संगठित करने में शीघ्र ही सफलता मिल सकती है। यदि निष्कर्षात्मक दृष्टि से देखें तो सभी साधनों में प्रत्यक्ष या परोक्ष

रूप में त्राटक योग का ही समावेश है। सरल होने के कारण यह साधना शीघ्र ही सिद्धिदायक हो सकती है। इसलिये जो मनुष्य किसी दिव्य उपलब्धि के आकांक्षी हों, उन्हें त्राटक योग का आश्रय लेना अधिक सुविधाजनक सिद्ध होगा।

त्राटक-साधना की विभिन्न उपलब्धि

प्रमाद से बचने का उपाय

त्राटक-साधना से मन में एकाग्रता तो आती ही है, हर्ष-उल्लास की भी उत्पत्ति हो जाती है। वस्तुतः मन में हर्ष रहता है तो शारीरिक स्वास्थ्य भी अपेक्षाकृत ठीक रहता है। सुखी जीवन जीने के लिये मन में हर्ष और शरीर में निरोगता बहुत आवश्यक है।

यदि मन में विषाद है तो कभी सम्भव नहीं कि शरीर स्वस्थ बना रहे। निषाद के कारण मन में अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं जैसे क्रोध, भय, चिन्ता, ईर्ष्या, द्वेष आदि और यह सभी मनो-विकार अकर्मण्यता उत्पन्न करने लगते हैं।

विषाद का बहुत कुछ कारण किसी कार्य-क्षेत्र में असफलता का मुख देखना भी है। उसके कारण मनुष्य के अहंकार पर चोट पहुँचती है और उसकी चिन्तन शक्ति में भी ह्रास हो जाता है। शरीर में

स्फूर्ति भी नहीं रहती। प्रमाद या आलस्य बढ़ता जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप न तो अपना ही हित-साधन हो सकता, न दूसरों का ही।

इस स्थिति को सँभालना कुछ कठिन नहीं होता। बार-बार की असफलता से बचने के लिये अभ्यास आवश्यक होता है। परीक्षाओं में असफलता का कारण अभ्यास की कमी और व्यापार-व्यवसाय में असफलता मिले तो भी वही कारण।

परन्तु, असफलता प्राप्त कराने वाले अनभ्यास से बचा कैसे जाय? इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिये कहीं दूर नहीं जाना होगा। मनुष्य जब प्रमाद में होता है तब उसमें आलस्य की अधिकता होती है और यह स्पष्ट रूप से समझ लीजिये कि आलस्य ही मनुष्य का शत्रु है। आलस्य के कारण ही अपेक्षित रूप में अभ्यास नहीं हो पाता। यदि हम आलस्य को त्याग दें तो प्रायः किसी भी कार्य में असफलता का मुख न देखना पड़े।

आलस्य क्यों होता है? प्रमाद क्या वस्तु है? इन प्रश्नों पर भी कुछ विचार कर लिया जाय तो प्रगति की दिशामें बहुत कुछ मार्ग-दर्शन हो सकता है।

मनुष्य सांसारिक झंझटों के कारण अनेक प्रकार की भ्रान्तियों में पड़ा रहता है। झंझट और भ्रान्ति दोनों का परस्पर में सुदृढ़ सम्बन्ध है। क्योंकि झंझट का कारण भ्रान्ति है, यदि भ्रान्ति न हो तो झंझट उत्पन्न ही न हो। किन्तु बहुत बार झंझट भी भ्रान्ति का कारण बन जाता है।

भ्रान्ति को चालू भाषा में गलत फहमी कहते हैं। गलत-फहमी का अर्थ है यथार्थ को यथार्थ रूप न समझना या कुछ का कुछ समझना। एक ने कोई बात कही, उसका अभिप्राय और शब्दार्थ कुछ दूसरा था और आपके समझने का ढँग उससे भिन्न। आपने किसी की बात को

ठीक प्रकार से नहीं समझा तो उस गलत समझने को ही गलतफहमी कहा जायगा।

गलत समझना ही क्लेश का कारण है, उसी को झंझट कहते हैं। आप किसी की बात को तब तक गलत समझते रहेंगे जब तक आपके मन में शान्ति नहीं होगी। मन शान्त होगा तो उसमें दूसरे के अभिप्राय को समझने में कठिनाई न होगी, क्योंकि शान्त मन में भ्रान्ति की मात्रा प्रायः नहीं रहती।

और वह भ्रान्ति ही बहुत बार प्रमाद बन जाती है। प्रमाद के कारण विषाद भी उत्पन्न हो सकता है। यदि वह विषाद बढ़ी हुई अवस्था में होता है तो ग्लानि उत्पन्न कर देता, विरक्ति को जन्म दे देता है। किन्तु वह ग्लानि या विरक्ति उन कर्मों के प्रति नहीं होती जो आत्मा के लिये अश्रेयस्कर हैं, वरन् उसमें निष्क्रियता की भावना उत्पन्न हो जाती है और उससे कार्य करने में जो अरुचि बनने लगती है, वही आलस्य में डाल देती है।

कुछ लोग आलस्य को प्रमाद का ही पर्याय मानते हैं। किन्तु यह दोनों शब्द बहुत कुछ समानार्थक और परस्पर में समीप होते हुए भी एक-दूसरे से भिन्न हैं। उनमें भिन्नता का अंश उतना ही है जितना ऊपर की पंक्तियों में बताया जा चुका है।

प्रमाद से बचने का उपाय है मन को स्थिर बनाना। यदि मन में चंचलता न रहेगी तो क्लेशों और भ्रान्तियों से भी बहुत कुछ बचा जा सकेगा। सुस्थिर मन में जो हर्ष-उल्लास रहता है, वह आलस्य को जीत लेता है। यदि आलस्य पर विजय प्राप्त कर ली गई तो अभ्यास के मार्ग में कोई व्यवधान नहीं रहेगा।

सुस्थिर मन समान दृष्टिकोण को उत्पन्न करता है। उसमें किसी के प्रति भेद-भाव नहीं रहता। विचार-धारा विश्व कल्याण की ओर

अग्रसर होती है। ध्यान रहे कि जो मनुष्य दूसरों का कल्याण नहीं सोच सकता, वह अपना कल्याण करने में भी समर्थ नहीं हो सकता।

प्रेम और उसके प्रकार

जो लोग विश्व-कल्याण के लिये तत्पर होते हैं, उनके मन में प्रेम का सागर उमड़ पड़ता है। वस्तुतः संसार में यदि कोई सार वस्तु है तो प्रेम ही है। प्रेम दो प्रकार का है—(१) बाह्य, और (२) आन्तरिक। बाह्य प्रेम का अभिप्राय शरीर सम्बन्धी वस्तुओं के प्रति प्रेम से है। यह प्रेम मोह उत्पन्न करने वाला और देहाध्यास को बढ़ाने वाला है। इसके द्वारा मनुष्य अपनी आत्मिक उन्नति नहीं कर सकता।

बाह्य प्रेम मन को चंचल बनाये रहता है। जब तक वह रहता है मानसिक अशान्ति बनी रहती है। क्योंकि ऐसा प्रेम सत्य नहीं है, स्थायी नहीं है, निकट भविष्य में अथवा बहुत समय बाद ही सही मिट जाने वाला है। उसमें प्रमाद, क्लेश, भ्रान्ति आदि का भी समावेश रहता है। संसार के सभी झंझट- काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, भय, चिन्ता, शोक आदि सभी का निवास इस बाह्य प्रेम में रहता है, इसलिए जो लोग सच्चा सुख चाहते हैं, उन्हें बाह्य प्रेम का त्याग कर देना चाहिए।

दूसरे प्रकार का प्रेम, आन्तरिक प्रेम ही वास्तव में सारभूत है। उसी को सर्वव्यापी कह सकते हैं। उसमें मोह नहीं होता, काम-क्रोध नहीं होता, शोक-भय नहीं होता। अभिप्राय यह है कि यही प्रेम समस्त विकारों से रहित है, इसी के द्वारा लोक-कल्याण हो सकता है और जिसके द्वारा लोक-कल्याण हो साधक के स्वयं से कल्याण का भी साधन होना ही चाहिए।

आन्तरिक प्रेम ही आत्मा-सम्बन्धी प्रेम है। वही परमात्मा की भक्ति है। उसी के द्वारा श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न हो सकता है। प्रभु

प्राप्ति का मार्ग वही प्रेम है। वह शाश्वत है, अविनाशी है। यदि वह जाग्रत् हो जाता है तो जीवन भर व्यक्त रहता है, कभी दबता नहीं। क्योंकि इसका उद्भव हृदय से हुआ है।

यद्यपि सभी कह सकते हैं कि हम सच्चा प्रेम करते हैं। पत्नी से प्रेम करते है तो सच्चे प्रेम का दावा करते हैं सन्तान से प्रेम करते हैं तो भी वही विश्वास दिलाते हैं। किन्तु क्या वे हृदय पर हाथ रख कर स्वयं भी उसकी सत्यता पर विश्वास कर सकते हैं? जो ऐसा कहते हैं, वे अवश्य ही झूठ बोलते हैं अथवा इतनी बड़ी भ्रान्ति में हैं कि स्वयं ही धोखा खा रहे हैं।

यदि आत्म-कल्याण चाहते हो तो लोक-कल्याण की बात सोचो। बाह्य प्रेम के आडम्बर का त्याग करके आन्तरिक प्रेम को जगाओ। किन्तु हम यह नहीं कहते कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए स्त्री-बच्चों से प्रेम न करो। हम कहते हैं कि उनसे भी प्रेम करो, उसी प्रकार जैसे आत्मा या परमात्म से निच्छल प्रेम करना चाहते हो। यदि पत्नी पुत्रादि के प्रति भी आन्तरिक प्रेम करने लगो तो निश्चय ही घर भी स्वर्ग बन जाय।

अनुभव करो कि विश्व के समस्त प्राणी तुम्हारे ही शरीर हैं: वे तुमसे बिल्कुल भी भिन्न नहीं हैं। सब जीवों में एकीभाव की स्थापना विश्व-प्रेम की भावना को सुदृढ़ करने में बड़ी सहायक सिद्ध हो सकती है। मत समझो कि हम दूसरों से श्रेष्ठ है, हमारे समान वह नहीं हो सकता, वह हमसे हीन है। क्योंकि ऐसा समझना अहंकार की उत्पत्ति में प्रमुख कारण बन जायगा।

आध्यात्मिक भाषा में कुछ लोग अहंकार को ही मृत्यु कहते हैं। क्योंकि अहंकार आन्तरिक प्रेम को नष्ट कर देता है। उसी के कारण आत्मा विभिन्न विकारों के मिश्रित आवरण में लिपट जाती है। वह आवरण उत्तरोत्तर दृढ़ होता जाता है, जिससे शरीर का भी

कुछ भला नहीं होता। आत्मा पर गहरा आवरण चढ़ने पर शरीर में मलीनता आवेगी ही।

शाश्वत और अनादि गुण

परमात्मा में तीन गुणों की विद्यमानता है। वे तीनों गुण शाश्वत हैं, अनादि काल से चले आ रहे हैं। उनके नष्ट होने की आशंका भी कभी नहीं हो सकती; इसीलिए उन गुणों को भी परमात्मा के ही समान अविनाशी माना जाता है।

वे गुण हैं—सत्, चित् और आनन्द। इन तीनों का समुच्चय हुआ सच्चिदानन्द। परमात्मा सच्चिदानन्द है, शरीरों में रहने वाला आत्मा भी सच्चिदानन्द है। किन्तु शरीर के आवरण में आने के कारण आत्मा का आनन्द गुण छिप जाता है। इसलिए लोग समझते हैं कि आत्मा में आनन्द गुण का अभाव है और इसी कारण वह आत्मा के समकक्ष नहीं हो सकता।

किन्तु तथ्य इस समझ के विपरीत है। शरीर आत्मा से भिन्न है, विजातीय है। किन्हीं भी दो विजातीय तत्वों का परस्पर में तालमेल नहीं बन पाता और उस स्थिति में विशेष रूप से, जब कि एक नाशवान हो और दूसरा अविनाशी। नाशवान को तो एक दिन नष्ट होना ही है, अविनाशी को उसका साथ छोड़ना ही होगा। तब उनमें एकीभाव की संभावना ही कैसे हो सकती है?

आत्मा का आनन्द गुण इतना दब जाता है कि उसके कारण म्लान हुआ आत्मा पर भी नियन्त्रण नहीं कर पाता। उसी की असमर्थता के कारण मन की उच्छृङ्खलता बढ़ती जाती है। आप किसी क्षुद्र व्यक्ति को अधिक ढील देकर देखिये—एक दिन वह आपकी बराबरी का दावा करने लगेगा। हो सकता है कि कहने लगे—'तुम मेरे सामने क्या हो?'

और उस कहने का आपके पास कोई ऐसा उत्तर नहीं हो सकता, जिससे उसकी अज्ञता सिद्ध कर सको।

इसी प्रकार आत्मा की अपेक्षा मन जब अधिक आगे बढ़ जाता है तब उसको नियन्त्रित करना बहुत कठिन हो जाता है। उसमें अहंकार की भावना बढ़ जाती है और प्रेम का अभाव होता जाता है।

प्रेम का अभाव ही स्वार्थ-भावना को जन्म देता है। जब ऐसा होता है, तब लोक-कल्याण की बात खटाई में पड़ जाती है। मनुष्य भूल जाता है परमात्मा को। परमात्मा को भूला तो आत्मा को ही कैसे याद रखे? वह तो शरीर को ही आत्मा मानने लगता है। इस प्रकार की मान्यता को देहाध्यास कहते हैं और वह देहाध्यास ही भ्रान्ति है।

वही भ्रान्ति राग-द्वेष में भी एक मुख्य कारण बन जाती है। राग-द्वेष के कारण बहुत-से अनुकूल-प्रतिकूल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अनुकूल ज्ञान का अभिप्राय किसी उपयुक्त स्थिति का उत्पन्न होना, जिसे मनुष्य अपने लिये हितकर समझे। किन्तु वह वास्तव में हितकर होता नहीं। क्योंकि मनुष्य सांसारिक विषयों को ही हितकर समझ बैठता है।

प्रतिकूल ज्ञान का अभिप्राय उस कार्य की जानकारी से है, जिसे मनुष्य अपने लिये अहितकर समझता हो, किन्तु उसमें चाहे शारीरिक हित-साधन न हो, आत्मिक हित तो निहित रहता ही है। देहाध्यासी मनुष्य आत्मिक हित को हित नहीं समझता, वह दैहिक हित को ही अनुकूल मानता है।

इस प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ज्ञान वस्तुतः विपरीत अर्थ और भ्रान्ति ही उत्पन्न करने वाले हैं। उनसे मनुष्य क्षणिक रूप से अपनी लौकिक उन्नति हुई समझ भले ही ले, किन्तु वह है निरर्थक। उससे आत्मा का आनन्द गुण जाग्रत् नहीं हो सकता और जो ज्ञान

आत्मा के आनन्द गुण को जगाने में समर्थ न हो, वह किसी काम का नहीं। क्योंकि देहाध्यास उत्पन्न करने वाला ज्ञान ही समस्त सांसारिक दुःखों का कारण होता है। जन्म-मरण के चक्र में वही ज्ञान डाले रहता है।

किन्तु यदि हम अनुकूल-प्रतिकूल ज्ञानों को आध्यात्मिक दृष्टि से देखें और समझें तो वे हमारे लिये हितकर हो सकते हैं। जिस ज्ञान के द्वारा आत्मा की अनुकूलता, उसके आनन्द गुण को जाग्रत् करने का कार्य सिद्ध हो सके, वही ज्ञान पूर्ण रूप से हितकर और सार्थक है। इसके विपरीत, जो ज्ञान काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, राग, द्वेष, ईर्ष्या, भय, शोक, चिन्ता आदि का कारण बन जाय वह आत्मा के लिये अनुकूल कभी भी नहीं हो सकता। मुक्षुजनों के लिये वैसा ज्ञान अवश्य ही त्याज्य है।

खाली मन, शैतान की दुकान

एक विचार है कि मन को चंचलता से बचाने के लिये आवश्यक है कि उसे किसी आध्यात्मिक चिन्तन—आत्म-चिन्तन या ईश्वर-चिन्तन में लगाये रखना चाहिए। धर्म, नीति आदि के विषय में भी विचार चलता रह सकता है। शास्त्रों का अध्ययन किया जाता रहे तो भी अच्छा है।

मन को खाली मत छोड़ो। एक लोकोक्ति है—'खाली मन शैतान की दुकान' स्वामी शिवानन्द भी कहते हैं—'When the mind is vacant, evil thoughts try to enter' अर्थात् 'जब मन खाली रहता है तब शैतानी विचार उसमें प्रवेश करने का प्रयत्न करते हैं।'

हमारे आचार्यों ने अध्ययन और सत्संग को आत्मिक पक्ष में बहुत हितकर माना है। अध्ययन करते रहने से ज्ञान-वृद्धि होती है और मन भी खाली नहीं रहता। यही लाभ सत्संग से भी है। उससे

महात्माओं द्वारा किये गये आधुनिकतम अनुभवों की जानकारी भी हो जाती है।

विचार के लिये बहुत से विषय हो सकते है—आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता, आत्मोत्थान का उपाय सदाचार, गृहस्थाश्रमादि में मनुष्य के लिये निर्वाह योग्य नियम, धर्म-अधर्म विषयक शंका-समाधान, ज्ञान-विज्ञान आदि। यह सभी विषय इतने व्यापक हैं कि मनुष्य सुख पूर्वक इनके विचार में अपना समय व्यतीत कर सकता है।

इस प्रकार के विचार किसी प्रकार के सही निष्कर्ष पर भी पहुँचा सकते हैं। कोई एक विषय एक बार में ठीक प्रकार से समझ में न आ सके तो उसका अध्ययन कई बार किया जा सकता है। जो बात एक बार में नहीं समझी जाती, उसके अर्थ पर अनेक बार विचार करने पर सहज ही समझ में आ सकती है। उस समय जो शंकाएँ उठें उनका निवारण स्वयं के विचार से न हो सकता हो तो किन्हीं अन्य ज्ञानी पुरुषों से भी उसका समाधान कराया जा सकता है।

वस्तुतः अध्ययन और उसकी पुनरावृत्ति भी एक प्रकार का अभ्यास ही है। यदि मनुष्य उसमें लगा रहे तो अपने विषय का पूर्ण विद्वान् बन सकता है। किन्तु ऐसी उपलब्धि हो तभी सकती है, जब मन को उसमें उलझाये रखा जाय, जिससे कि वह खाली न रह सके और उसे शैतान की दुकान बनने का अवसर ही न मिल सके।

देहाध्यासी मनुष्यों का मन प्रायः शारीरिक विषयों के अधीन रहता है, इसलिये वे उसका विकास नहीं कर सकते यदि उनका सहज रूप से कुछ विकास होता भी है तो स्वल्प मात्रा में ही। वस्तुतः उसका जो कारण है वह विषयासक्ति है। क्योंकि विषयासक्त मनुष्यों का मन सदा विषयों की ओर ही दौड़ता है।

भोगों में निहित क्षय के परिणाम

भोगों में क्षय निहित है। किसी वस्तु का उपभोग करोगे तो वह धीरे-धीरे समाप्त होगी ही। शरीर में विद्यमान सात धातुएँ ही शरीर को पोषण देती हैं। उनमे रक्त और शुक्र का अधिक महत्व है। इनकी मात्रा कम होती रहेगी तो शरीर दुर्बल होगा ही।

रक्त और शुक्र की मात्रा में कमी का प्रमुख कारण विषयों का भोग ही है। जब तक मन उस ओर आकर्षित रहेगा, तृप्ति नहीं होने देगा। भोगों को जितना अधिक भोगा जायगा, उतनी ही अतृप्ति बढ़ती जायगी, उतनी ही चाह बढ़ती रहेगी।

यही कारण है कि मन भी उनमें डूबा रहता है। जब तक डूबा रहेगा, विकसित भी कैसे होगा ? जो लोक पंचकोश के विषय में कुछ जानते हैं, उन्हें यह भी विदित होना चाहिए। कि शरीर का बाहरी आवरण अन्नमय कोष है। बाह्य विषयों से इसी का अधिक सम्बन्ध रहता है।

मन को अन्नमय कोष के आकर्षण से निकालने का प्रयत्न करो। यदि मन का विकास करना चाहते हो तो विज्ञानमय कोष को विकसित करने के यत्न में लगा जाओ। यदि विज्ञानमय कोष के द्वारा मन को उठा लिया तो समझ लो कि बहुत कुछ पा गये।

इसके लिये परमात्मा का चिन्तन करो। क्योंकि आत्मा परमात्मा का ही अंग है। जो गुण-स्वरूप परमात्माके हैं, वही आत्मा के भी हैं। इसी से आत्मा का आनन्दगुण सहज रूप से परिलक्षित हो सकता है।

परमात्मा के चिन्तन की अनेक विधियाँ हैं—जप, तप, योग, भक्ति स्वाध्याय, संकीर्तन आदि। इनमें से जो विधि अपने अनुकूल प्रतीत हो, उसका आश्रय लेना चाहिए।

जप का अभिप्राय किसी मन्त्र के उच्चारण की बार-बार आवृत्ति से है। परमात्मा का नाम भी मन्त्र रूप ही है। शिव, विष्णु, नृसिंह, माधव, जनार्दन, ऋषिकेश, राम, कृष्ण आदि बहुत-से नाम हैं परमात्मा के। यद्यपि इन नामों में से किसी में भी भिन्नता नहीं है,तथापि आपको जो नाम इष्ट हो उसका जप कर सकते हैं।

कुछ लोग शंका कर सकते हैं, उनके नाम ही नहीं, रूप भी भिन्न-भिन्न हैं तो इनमें अभेद कैसे माना जाय? उन्हें समझना चाहिए कि एक ही परमात्मा के अनेक नामरूप हैं। 'शिव अनन्त शिव नाम अनन्ता' के अनुसार अनन्त नाम वाला वह परमात्मा ही अनेकानेक रूपों में प्रकट होता है। विष्णुपुराण कहता है—

सृष्टि स्थित्यन्तकरणीं ब्रह्म विष्णु शिवा भधाम्।
स संज्ञां यान्ति भगवान् एक एक जनार्दन॥

अर्थात्—वह एक ही भगवान् सृष्टि का उत्पादन, पालन और संहार करता है। उसी एक को ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम से पुकारते हैं।

ऋग्वेद ने भी उसी प्रकार का मत व्यक्त किया है—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (विद्वज्जन उसी एक परमात्मा को अनेकों नामों से कहते हैं)। यजुर्वेद का भी मत है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तच्चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्मता आपः स प्रजापतिः॥

अर्थात्—वह परमात्मा ही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, वरुण तथा प्रजापति है।

तप का अर्थ व्रतादि का पालन करते हुए तथा धर्म में रत रहते हुए परमात्मा की उपासना करना है। व्रतादि साधनों के द्वारा भी मन की चंचलता दूर करने में बड़ी सहायता मिलती है। उनका निर्वाह

जितना शरीर की स्थिति देखते हुए हो सके, उतना न्यूनाधिक किया जा सकता है।

योग-साधना के विषय में बहुत-से लोग जानते हैं। इसके द्वारा मन का संयम और आत्मज्ञान प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

योग-क्रियाएँ अनेक प्रकार की हैं—हठयोग, राजयोग, ध्वनि-योग, स्वर-योग, प्राण-योग, त्राटक-योग आदि। हठयोग के आठ अंग यम-नियमादि से समाधि पर्यन्त सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। वे सभी अभ्यास से साध्य होते हैं। उनसे बाह्यान्तरिक पवित्रता तथा सब प्रकार से सुख-शान्ति प्राप्त होती है।

राजयोग का साधक शब्द की ओर ध्यान देता है। उसी में चित्त को रमा लेता है। शब्द ब्रह्म है और ब्रह्म प्रत्येक शरीर में आत्मा रूप से विद्यमान है। कानों को बन्द कर लेने पर उसकी आवाज सुनाई देती है, जिसे अनाहत ध्वनि कहते हैं। कुछ लोग इसी को सुरत शब्द योग भी कहते हैं।

शब्द पर ध्यान लगाने से मन शीघ्र ही वश में हो जाता है। यही अभ्यास ध्वनि योग कहा जा सकता है, क्योंकि ध्वनि और शब्द में कोई भेद नहीं है। स्वर योग का साधक स्वर के नियन्त्रण द्वारा ही मन को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करता है।

अष्टांग योग का मुख्य साधन प्राणयोग

प्राणायोग का अभिप्राय प्राण-साधना से है। अष्टांग योग का ही एक अंग प्राणायाम है। कुछ लोग इस अंग का इतना अधिक अभ्यास करते हैं कि उसी के द्वारा उनका मन नियंत्रित हो जाता है और उसके लिये उन्हें अधिक प्रयत्न नहीं करना होता।

त्राटक योग के विषय में अन्यत्र बताया जा चुका है। यह साधना योग के आठ अंगों में समाविष्ट न होते हुए भी योग क्रिया का अभिन्न

अंग है। योगियों ने इन्हें षट्कर्म के अन्तर्गत माना है और षट्कर्म भी उतने ही आवश्यक हैं, जितने कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि।

अनेक अनुभवी पुरुषों ने त्राटक-साधना को बहुत महत्वपूर्ण माना है। कुछ के विचार में तो इतनी सरल और आश्चर्यजनक परिणाम वाली और कोई साधना है ही नहीं। क्योंकि त्राटक और स्थिर हुए मन के मध्य अनन्य संबन्ध है। वे परस्पर में एक-दूसरे के आश्रित रहते हैं। त्राटक से मन स्थिर होता है, किन्तु तभी जब मन को स्थिर करने का संकल्प ले लिया गया हो।

इसीलिए त्राटक को एक पृथक् योग के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। योग का अर्थ जुड़ना है। त्राटक का अभ्यास किया तो जाता है आँखों से, किन्तु जब तक उसके साथ मन का योग नहीं होता, तब तक सफलता भी नहीं मिल सकती।

भक्ति का अभिप्राय परमात्मा के प्रति श्रद्धा-भाव युक्त प्रीति की दृढ़ता होने से है। भक्त भक्ति करता है और दर्शन के समय भगवान् के रूप को टकटकी लगा कर देखने लगता है। उस समय मन भी रूप-दर्शन में ही निमग्न हो जाता है और उसे अपने विषय में कुछ भी होश नहीं रहता। उसकी चित्तवृत्ति भी भगवान् का ही स्वरूप धारण कर लेती है। वस्तुतः सच्चा त्राटक यही है। प्रसिद्ध कवि श्रीदाऊ-दयाल गुप्त ने भक्ति की मूर्च्छनावस्था को ही त्राटक योग माना है। वे कहते हैं—

सुखद दर्श नैना रमे वृत्ति भई पिय रूप।
आपौ विसरत मूर्छना त्राटक योग अनूप॥

और विचार कर देखें तो स्वरूप से भी भक्ति योग का ही रूप है। योग में आसनादि के अभ्यास में कुछ कठिनाई भी प्रतीत होती है, किन्तु भक्ति में तो उस प्रकार की कोई बाधा है ही नहीं।

स्वाध्याय को कुछ विद्वानों ने यम-नियम के अन्तर्गत मान कर ही उसका निर्देश दिया है। सत्-शास्त्रों के अध्ययन से बहुत-सी जानकारी मिलती और कभी-कभी तो गूढ़ ग्रन्थियाँ भी खुल जाती हैं। अनेक साधक स्वाध्याय के द्वारा ही मन को वश में कर लेते हैं। उससे जो बुद्धि विवेक जाग्रत् होता है, वह अनेक शंकाओं का निवारण कर देता है।

गुण-कीर्तन की महिमा

भक्तजनों ने भगवान् के गुण-चरित्रों के बखान तथा नाम-संकीर्तन को ही मानसिक शान्ति और आनन्द का साधन स्वीकार किया है। उसके द्वारा चित्त की तन्मयता अधिक बढ़ती है। और भावनात्मक समाधि उत्पन्न हो जाती है। इसमें भी वही मूर्च्छनावस्था उत्पन्न हो जाती है, जिसकी चर्चा भक्ति के सन्दर्भ में की गई है।

इसमें संगीत की जो ध्वनि उठती है, वह सभी को आत्म-विभोर बना देती है। आपने सुना होगा कि सर्प संगीत का बड़ा प्रेमी होता है। यदि नागिन-ध्वनि के प्रकार का संगीत प्रस्तुत किया जाय तो सम्भव है कि उसे सुनने के लिये नाग वहाँ आ ही उपस्थित हो। क्यों कि उस समय यदि वह उस ध्वनि को सुन लेता है तो उसी में तन्मय हो जाता है।

यही स्थिति मन की है। वह भी सर्प के समान ही संगीत में तन्मय हो सकता है। उसकी तन्मयता के लिये यह आवश्यक नहीं कि नागिन ध्वनि का ही प्रयोग किया जाय। संगीत की कोई भी ध्वनि हो, होनी चाहिए मनोमोहक।

संगीत की तन्मयता कुण्डलिनी को जगाने में भी बहुत सहायक होती है। संगीत की ध्वनि-तरंगों का प्रभाव बाह्य वातावरण पर ही नहीं पड़ता, शरीर के आन्तरिक अवयव भी प्रभावित होजाते हैं। कुछ

विद्वानों के विचार में तो संत का जितना प्रभाव भीतरी अंगों पर पड़ता है, उतना बाह्य वातावरण पर भी नहीं। कविवर दाऊदयाल गुप्त ने अपनी योग गीताञ्जलि' में लिखा है—

जोगी ! ऐसी धुनि गइयो।
अंग अंग मेरौ होइ तरंगित झुकि जाइ भीतर प्रान।
निचलौ भाग अधिक गति पावै ऊँचौ उठै अपान ॥
जो रही सोइ मूल में बेसुध नागिन जगि जइयो ॥

इस गीत से संगीत से संगीत का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। संगीत में बड़ी शक्ति विद्यमान है। उसके प्रभाव से प्राण नीचे झुकता और अपान ऊपर की ओर उठता है। इस प्रकार जब प्राण और अपान का मिलन होता है, तब उनके प्रभाव से मूलाधार में सोती हुई कुण्डलिनी शक्ति सहसा जाग उठती है।

एक बात पुनः समझलो—हर्ष-उल्लास रहे तो भी मन में स्थिरता आने लगती है। इसलिये जो लोग अपने मन को स्थिर कर आत्म-साधन करना चाहते हैं, उन्हें अपने मन में प्रसन्नता बनाये रखनी चाहिए। यदि मन प्रसन्न रहेगा तो शरीर में भी स्फूर्ति बनी रहेगी।

मन की चौदह वृत्तियाँ

मनोवैज्ञानिकों ने मन की चौदह वृत्तियाँ मानी हैं—(१) काम-प्रवृत्ति, (२) निवृत्ति, (३) रचना वृत्ति, (४) संग्रह वृत्ति, (५) शरणागति, (६) युयुत्सा, (७) जिज्ञासा, (८) आत्म-गौरव, (९) पलायन, (१०) दैन्य, (११) पुत्रेच्छा, (१२) भोजनान्वेषण, (१३) सामूहिकता, और (१४) हास। इनमें से प्रथम से तेरहवीं पर्यन्त सभी वृत्तियाँ मनुष्यों और पशुओं में समान रूप से देखी जा सकती है। किन्तु चौदहवीं वृत्ति 'हास' पशुओं में नहीं, केवल मनुष्यों में ही होती है।

क्या आपने कभी किसी गाय, भैंस, कुत्ते, घोड़े, गधे या अन्य किसी भी पशु को हँसते देखा है। यह कितने ही सुखी या प्रसन्न हों,

किन्तु हँस नहीं सकते। प्रकृति-प्रदत्त इस गुण का तिरस्कार हम स्वयं ही कर रहे हैं। क्योंकि हमारे मन विषयासक्त होने के कारण विषाद ग्रस्त हैं और विषाद है हास का शत्रु। दोनों ही परस्पर में विपरीत गुण वाले।

हम चाहें तो अपने मन को विषाद से बचा सकते हैं। कुछ लोग देखे जाते हैं जो कैसी भी संकट की घड़ी हो, घबराते नहीं, उनके मुख पर हास उस समय भी विद्यमान दिखाई देगा। आप मन को सबल बना कर उसे देहाध्यास से दूर कर लीजिये और फिर देखिये—क्या दशा होती है आपके मनकी ?

कहते हैं कि सरदार पटेल में यही गुण था। वे शरीर के दुःख को अपना दुःख नहीं मानते थे। एक बार उनकी आँख में कुछ घुस गया, चिकित्सकों ने कहा कि ऑपरेशन द्वारा उसे निकालना होगा। श्री पटेल की अवस्था उस समय छोटी ही थी।

जब ऑपरेशन की तैयारी हुई तब चिकित्सकों ने उन्हें बेहोशी का इन्जेक्शन देना चाहा। किन्तु उन्होंने कहा कि 'इंजेक्सन देने की आवश्यकता नहीं है।' चिकित्सकों ने बहुत समझाया कि 'बिना इंजेक्शन दिये ऑपरेशन कराना हँसी खेल नही है। क्योंकि ऑपरेशन में होने वाले कष्ट को सहन करना बहुत कठिन कार्य है।'

फिर भी सरदार नही माने। ऑपरेशन किया गया और वे देखते रहे, किन्तु किसी प्रकार से विचलित नहीं हुए। चिकित्सकों को इससे बड़ा आश्चर्य हुआ और उसी दिन से सरदार पटेल लौह पुरुष कहलाने लगे।

हम स्वीकार करते हैं कि सरदार पटेल जैसी सहिष्णुता सभी में नहीं हो सकती। फिर भी धीरे-धीरे ऐसा अभ्यास तो किया ही जा सकता है कि शरीर को मिलने वाली कष्ट की अनुभूति अधिक न हो,

जिससे मन को अधिक प्रसन्न न रख सकें तो उसे विषाद-ग्रस्त भी न होने दें।

किन्तु यह कार्य इतना सरल नहीं है कि बात कहते ही सिद्ध होने लगे। उसके लिये अभ्यास की आवश्यकता होगी। एक लोकोक्ति है—

करत-करत अभ्यास के जड़ मति होत सुजान।
रसरी आवत-जात ते सिल पर होत निसान॥

जब पनिहारी की रस्सी कुँए के पत्थर तक को काट सकती है, तब और क्या नहीं हो सकता। रस्सी मूँज की या सूत की हो सकती है, उससे पत्थर तो क्या काष्ठ भी नहीं कट सकता, किन्तु बर्तन के साथ बार-बार कुँए के पत्थर को रगड़ती है तो उसमें कटाव आरम्भ हो जाता है।

यह अभ्यास की बात है। किसी भी कार्य की सफलता के लिये उसकी क्रिया का अभ्यास करना आवश्यक होता है। शब्दार्थ को मस्तिष्क में बैठाना है तो 'मैन माने आदमी' और 'कैट माने बिल्ली' को बार-बार रटना ही होगा। इसी प्रकार किसी मन्त्र को याद रखने के लिए उसे भी रटना होता है।

बहुत-से वक्ता लोग जो भाषण देते हैं, उसमें उनका रटा हुआ भाग अधिक होता है। एक ही बात को बार-बार कहते रहने से भाषण मँज जाता है, जिससे लोग आकर्षित होने लगते हैं। अभ्यास के द्वारा असम्भव भी सम्भव हो सकता है। इसीलिए योगाचार्यों ने तो अभ्यास को ही सर्वाधिक महत्व दिया है। आत्मोन्नति के मार्ग में भी, लौकिक व्यवहारों के समान ही, अभ्यास द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।

त्राटक-ध्यान एक सशक्त मानसिक प्रक्रिया

ध्यान के विभिन्न प्रकार

ध्यान का सीधा-साधा अर्थ है मन को किसी विषय विशेष में लगाने का प्रयत्न। महर्षि पतंजलि ने 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (यो. द. ३।२) कह कर स्पष्ट किया है कि 'जहाँ चित्त को ठहराया जाय, उसी में वृत्ति का एक जैसा बना रहना ध्यान है।' और यह ध्यान मन को स्थिर करने में भी बडा सहायक होता है। महर्षि पतंजलि ही कहते हैं—'यथाभिमत ध्यानाद्वा' (यो. द. १।३९) अर्थात् 'जिसे जो अभीष्ट हो उसका ध्यान करने से मन स्थिर होजाता है।'

वस्तुतः मनुष्य जिस वस्तु विशेष को अधिक प्रिय समझता है, उसी की ओर विशेष रूप से ध्यान देता है। इस प्रक्रिया को हम चयनात्मक कह सकते हैं। यह चयन ऐच्छिक और अनैच्छिक दोनों प्रकार का हो सकता है। जैसी प्रेरणा होती है, वैसी ही वस्तु की ओर ध्यान आकर्षित होता है।

इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए मनोविशेषज्ञों ने ध्यान को तीन भेदों में विभाचित किया है। उनमें ऐच्छिक और अनैच्छिक के अतिरिक्त एक प्रकार स्वाभाविक भी है। यह स्थिति ध्यान योग और उसी की एक प्रक्रिया रूप त्राटक योग में भी हो सकती है—

ऐच्छिक ध्यान—

जो ध्यान अपनी इच्छा से किसी वस्तु पर लगाया जाय, वह ऐच्छिक कहा जायगा। उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति किसी के द्वारा बाध्य

न किये जाने पर अपनी ही इच्छा से किसी धर्म ग्रन्थ के अध्ययन में अथवा किसी चित्र या मूर्ति में ध्यान लगाता है तो वह ध्यान ऐच्छिक होगा। इस प्रकार के ध्यान में इच्छा और रुचि, ध्येय एवं अभियोजन के भाव स्पष्ट रूप से निहित रहेंगे। वस्तुतः ध्यान भी मनुष्य के अभियोजन का एक रूप ही है।

अनैच्छिक ध्यान—

अनैच्छिक ध्यान वह है जो अपनी इच्छा न रहते हुए भी किसी संकोच, भय, दबाव अथवा परम्परा-पालन की दृष्टि से अनिच्छा पूर्वक किया जाय। बहुत बार धार्मिक कृत्य के समय जब आचार्य पूजन के समय ध्यान करने को कहता है तब कितने व्यक्ति ऐसे होंगे जो देव मूर्ति के ध्यान में चित्त लगाते हों! इस प्रकार का ध्यान ध्येय की प्राप्ति में बाधक होता है।

अनैच्छिक ध्यान का एक रूप यह भी है कि आप किसी पुस्तक का अध्ययन कर रहे हैं, तभी कोई गाना सुनाई दे और आपका ध्यान उस ओर चला जाय। इस प्रकार से गाने के प्रति ध्यान का अनिच्छा पूर्वक आकर्षित होना लक्ष्य से हटाने में एक कारण बन जाता है।

स्वाभाविक ध्यान -

यदि किसी प्रकार की आदत के कारण स्वतः ही ध्यान की स्थिति बन जाय तो इसे स्वाभाविक (हैबिच्युअल) ध्यान कहेंगे। यह ध्यान अनैच्छिक के समान होते हुए भी उससे भिन्न ही है। क्योंकि अनैच्छिक ध्यान का कारण कोई वस्तु विशेष होती है, जब कि स्वभाविक ध्यान की प्रेरणा व्यक्ति से ही मिलती है।

स्वाभाविक ध्यान ऐच्छिक ध्यान से भी भिन्न है, क्योंकि ऐच्छिक ध्यान इच्छा से ही लगाया जाता है, किन्तु स्वाभाविक ध्यान में इच्छा

की अपेक्षा नहीं होती। परन्तु यदि किसी वस्तु पर बहुत समय तक ऐच्छिक ध्यान लगाया जाता रहे तो वह स्वभाविक ध्यान का ही रूप ले लेता है।

ध्यान में रुचि का महत्व

विना रुचि के ध्यान नहीं लग सकता और रुचि उत्पन्न हो सकती हैं अभीष्ट वस्तु में ही। वस्तुतः रुचि एक भावात्मक विन्यास (एफेक्टिव डिस्पोजीशन) है. जिसका कार्य ध्यान को जगाना और स्थिर रखना है। रुचि एक प्रकार की मानसिक संरचना ही है, जिसे स्थायी प्रवृत्ति भी कह सकते हैं। किन्तु यह क्रिया नहीं है, वरन् चेष्टात्मक क्रिया को अपेक्षित गति प्रदान करती है।

रुचि दो प्रकार की होती है—(१) जन्मजात, और (२) अर्जित। मूल प्रवृत्तिजन्य आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाली वस्तुओं में मनुष्य की रुचि होना स्वाभाविक है और यह रुचि मनुष्यों में ही नहीं, अन्य समस्त प्राणियों में भी जन्म से ही रहती है।

किन्तु अर्जित रुचि का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष की अपनी आवश्यकता के अनुसार भी हो सकता है। किसी अध्ययनशील व्यक्ति की रुचि ग्रन्थों में हो सकती है, जब कि अनपढ़ मनुष्यों की रुचि ग्रन्थों में नहीं हो सकती। किसी वैज्ञानिक की रुचि अपने उपकरणों, यन्त्रों आदि में हो सकती है, जब कि विज्ञान को न जानने वालों के लिये उन उपकरणों या यन्त्रों का कोई महत्व नहीं होता।

अर्जित प्रकार की रुचि की उत्पत्ति मनुष्य अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता के अनुसार विकसित कर सकता है। जीवन यापन और समाज में प्रतिष्ठा बनाने के लिये धनोपार्जन आवश्यक है उसमें जितनी अधिक रुचि ली जायगी, सफलता का मार्ग उतना ही प्रशस्त होगा। अध्यापक या विद्यार्थी यदि सफल होना चाहते हैं तो उन्हें अध्यापन और विद्या-

ध्ययन मे रुचि लेनी ही होगी। इसी प्रकार योगी की योगाभ्यास में, भक्त की भजन में, जापक की जप में रुचि होगी तो ही कार्य सिद्धि हो सकती है।

अर्जित रुचि का आधार प्राय: अनुभव है। क्योंकि रुचि का भावना और इच्छा से सीधा सम्बन्ध रहता है। जिस वस्तु में रुचि होती है, उसका हृदय में स्थान रहना स्वाभाविक है। बहुत बार देखते हैं कि किसी व्यक्ति विशेष में तभी तक रुचि रहती है, जब तक उससे काम रहता है। काम निकलने पर उसके प्रति रुचि नहीं रह पाती। इससे स्पष्ट है कि रुचि अस्थायी भी हो सकती है। किन्तु स्वाभाविक रुचि में स्थायित्व रहता है।

रुचि और ध्यान का गहरा सम्बन्ध

रुचि और ध्यान का परस्पर में गहरा सम्बन्ध है। रुचि के बिना ध्यान नहीं बन पाता। यदि ध्यान किया भी जाय तो रुचि के अभाव में वह टिकता नहीं। मैक्डूगल नामक एक मनोवैज्ञानिक ने कहा है कि 'रुचि गुप्त ध्यान है और ध्यान सक्रिय रुचि है' (Interest is tantent attention. attention is interest in action)

वस्तुत: रुचि ही ध्यान को संचालित करती है और ध्यान की स्थिरता भी रुचि के द्वारा ही सम्भव है। इससे यह भी कहा जा सकता है कि ध्यान के रूप में रुचि ही प्रकट होती है तथा जिस समय ध्यान नहीं रहता उस समय ध्यान की प्रवृत्ति रुचि के रूप गुप्त बनी रहती है। इस प्रकार रुचि को ध्यान का मानसिक हेतु कहना उपयुक्त होगा।

परन्तु, उक्त विवेचन का अभिप्राय एक दम यह भी नहीं है कि रुचि के बिना ध्यान हो ही नहीं सकता। किसी अपेक्षित वस्तु में रुचि न होते हुए भी उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करना होता है। इस प्रकार

ध्यान में हेतु रूप होते हुए भी ध्यान को रुचि का परिणाम नहीं मान सकते।

तो भी, जहाँ रुचि है वहाँ ध्यान में सरलता रहती है, क्योंकि रुचि अधिकांशतः ध्यान में बहुत सहायक होती है। उसे हम ध्यान के लिये एक आवश्यक तत्व मान कर उससे सहायता लें तो असफलता से बहुत कुछ बच सकते हैं।

ध्यान एक चयनात्मक मानसिक क्रिया है, जिसके बाह्य और आन्तरिक सहायक कारणों पर विशेषज्ञों द्वारा बहुत खोज की ज़ा चुकी है। यदि इन सहायक कारणों और उनसे उत्पन्न अवस्थाओं पर विचार करने बैठें तो हम बहुत कुछ प्राप्त कर सकते हैं।

ध्यान में सहायक बाह्य अथवा वस्तुगत अवस्थाओं का सम्बन्ध परिवेश से होता है। प्राणी के परिवेश में बहुत-सी अनुभूतियों और उत्तेजनाओं का समावेश रहता है। परन्तु उसका ध्यान सभी की ओर समान रूप से नहीं जाता, जो अनुभूतियाँ या उत्तेजनाएँ अत्यधिक शक्तिशाली होती हैं, उन्हीं पर ध्यान केन्द्रित रहता है। आन्तरिक या आत्मगत अनुभूतियाँ मानसिक स्थिति, संस्कृति आदि से बहुत-कुछ सम्बन्ध रखती हैं और उनमें भी जो अधिक महत्वपूर्ण होती हैं, वे मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहतीं। वस्तुतः आन्तरिक दशाएँ अधिक प्रबल रहती हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध आन्तरिक प्रेरकों से रहता है और इनका प्रभाव बाह्य दशाओं पर भी बहुत कुछ पड़ता है।

ध्यान में अधिक सहायता मिलती है उत्तेजना की तीव्रता से। यदि उत्तेजना में बल नहीं तो उधर ध्यान नहीं जायगा और गया भी तो बहुत कम। तीव्र उत्तेजना ध्यान को आकर्षित करने में बहुत सहायक होती है। बहुत बार उत्तेजना में परिवर्तन हो जाता है तो ध्यान

भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उदाहरणार्थ ओंकार का ध्यान किया तभी किसी प्रकार की प्रेरणा से यह समझ में आया कि राम की उपासना करो ओंकार से हट कर ध्यान राम पर पहुँचगया। इसी प्रकार अन्य परिवर्तनों के विषय में है। चित्त की यह अस्थिरता रुचि में परिवर्तन लाती हैं और साथ ही ध्यान को प्रभावित करती है। इसीलिए यह कहना होता है कि जो कुछ करो खूब सोच-विचार कर करो। चित्त को स्थिर बनाकर रुचि का विकास करो। रुचि विकसित हुई तो ध्यान भी ठीक प्रकार से लगेगा।

पाश्चात्य विद्वानों ने ध्यान के लिये मानसिक तत्परता (मेंटल सैट) को भी उपयोगी बताया हैं। मानसिक तत्परता का अभिप्राय मन के झुकाव से है। मन का झुकाव जब जिधर होगा उधर ही ध्यान जायगा। यदि मन को विषयों की ओर अधिक झुका रहने दिया जाय तो मन में विक्षोभ की स्थिति बनी रहेगी, जो कि मानसिक तत्परता के विपरीत है।

इसीलिए अन्तर्दर्शन की प्रेरणा दी जाती है। यदि काम, क्रोध, भय, आशंका, अहंकार, देषादि भावनाएँ क्षोभ उत्पन्न करती रहें तो आप उनका पुनर्निरीक्षण कीजिये। झाँकते रहिये अपने अन्तर में, जितना ही अधिक झाँकेंगे उतना ही अन्तर्ज्ञान स्पष्ट होने लगेगा। आपका मन स्वयं ही सोचेगा कि मैं कर क्या रहा हूँ? विश्वास कीजिये—मन नहीं चाहेगा कि किसी भी भूल को पुनः दुहराया जाय। जो कार्य अच्छे बन पड़े होंगे उन्हीं की ओर झुकाव होगा उसका।

और आपने अपना मन जिधर झुका लिया, उधर ही आपकी जीवन यात्रा चल पड़ेगी। मन झुका तो मंजिल आसान। उसे झुकाते रहिए लक्ष्य की ओर, वही सफलता का एक प्रबल उपाय है। रुचि की उत्पत्ति के लिये मन का झुकाव चाहिये और रुचि उत्पन्न हो गई तो बाधा भी दूर होगई समझिये।

आदत या स्वभाव का ध्यान पर बड़ा प्रभाव पड़ता हैं। अभीष्ट वस्तु पर ध्यान लगाने की आदत बनाओ। जो अभीष्ट है, वही ध्येय वस्तु है, यदि मन ने पकड़ लिया उस ध्येय वस्तु को तो ध्यान सहज ही लग जायगा।

इस प्रकार आदत, स्वभाव, मानसिक तत्परता, स्थिरता आदि ध्यान के सहायक कारण बन जाते हैं। उन सब के द्वारा रुचि का जागरण सहज ही किया जा सकता है। रुचि जागी और ध्यान लगा, रुचि सो गई तो ध्यान भी सो गया।

त्राटक एक सरल साधना

ध्यान की क्रिया नेत्र बन्द करके अभ्यास करने से सम्पन्न होती है। आरम्भ में खुले नेत्रों से ध्येय वस्तु पर ध्यान करने का अभ्यास अधिक उपयोगी होता है। यदि आरम्भ में ही आँखें बन्द करके बैठ जाँय तो उसमें कठिनता से मन लगेगा। क्यों कि चंचल चित्त को स्थिर होने के लिये आरम्भ में तो ध्येय वस्तु का कोई आकार चाहिए ही। कुछ अनुभवी योगाभ्यासिनों की मान्यता है कि आरम्भिक अभ्यास में ध्यान की प्रक्रिया खुली आँखों से की जाय तो शीघ्र सफलता मिलती है।

एक योगी पुरुष ने हमें बताया कि "जब मैंने ध्यानयोग का अभ्यास आरम्भ किया तब यौगिक विधि से आँखें बन्द कर लेता और भगवान् विष्णु का ध्यान करने लगता। किन्तु आँखें बन्द करने पर बहुत प्रयत्न

करने पर भी भगवान् का स्वरूप ठीक प्रकार से ध्यान में न उतर पाता तो मन ऊब जाता और इधर-उधर दौड़ पड़ता। मैं विष्णु के ध्यान का प्रयत्न करता तो मन बम्बई या पूना की सैर करने चल पड़ता। मैं उसे रोकने का यत्न करता तो भी वह रुकता नहीं था, जितना उसे रोकता उतना ही दूर भागने लगता। इस प्रकार मन निकल भागता तो शरीर भी थक जाता। इस प्रकार पर्याप्त दिन अभ्यास किया तो भी कुछ लाभ नहीं हुआ।

तभी एक दिन एक पहुँचे हुए योगी से भेंट हुई। मैंने उन्हें अपनी कठिनाई बताई तो वे बोले—निराशा की कोई बात नहीं भाई! आरम्भ में तो ऐसा होता ही है। मैं तुम्हें ऐसी विधि बता सकता हूँ, जिसके द्वारा अभ्यास करने पर अवश्य सफलता मिलेगी।

मेरी जिज्ञासा देख कर उन्होंने बताया—जब अभ्यास करने बैठो, इष्टदेव की प्रतिमा अथवा चित्र सामने रखो। वह आरम्भ में एक फिट की दूरी पर रहे और फिर क्रमशः कुछ दिनों के अन्तर पर प्रतिमा अथवा चित्र पर खुली आखों से ध्यान लगाना चाहिये। उसे टकटकी लगा कर देखने का अभ्यास करो। जितनी देर मन लगे उतनी देर अभ्यास करना पर्याप्त है। धीरे-धीरे मन स्वतः लगाने लगेगा। तुम्हें उसे पकड़ने की आवश्यकता नहीं रहेगी। कुछ दिनों में ही देखोगे कि तुम्हारा मन प्रत्येक क्रिया में तुम्हारा साथ देने लगा है। फिर चित्र या प्रतिमा को क्रमशः दूर हटाने लगोगे तब भी उसके रूप-दर्शन में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। इससे दृष्टि तीव्र हो जायगी और मन भी स्थिर हो जायगा। मानसिक शान्ति का यह एक सरल उपाय है। इसे त्राटक-ध्यान कहते हैं और विभिन्न साधक इसे अपनी-अपनी सुविधानुसार विभिन्न विधियों से करते हैं।

मैंने महात्माजी की बताई हुई विधि से त्राटक ध्यान का अभ्यास

आरम्भ किया और पाया कि इसके अभ्यास में बहुत सरलता है। कुछ दिन में ही अनुभव हो गया कि यह एक सशक्त मानसिक प्रक्रिया है। उसके बाद आन्तरिक ध्यान की प्रक्रिया भी बहुत सरल हो गई।"

उक्त अनुभव से यह सिद्ध होता है कि त्राटक ध्यान मन की शक्ति को बढ़ाने वाली एक श्रेष्ठ साधना है। इसके द्वारा मन में इष्टदेव की अपार शक्ति का अंश भरने लगता है और साधक को अनुभव होता है कि वह उस दिव्य शक्ति का अंश पाकर कुछ नवीन सामर्थ्य का स्वामी बनता जा रहा है।

वस्तुतः इष्टदेव अथवा किसी भी इष्ट वस्तु पर दृष्टि स्थिर करते रहने से मन भी उसी एक ही विचार में लग जाता है और जब उसकी बिखरी हुई शक्तियाँ केन्द्रित होने लगती हैं तब वह अत्यधिक बलशाली बन जाता है।

सभी जानते हैं कि जब शक्ति बँटी रहती है, छिन्न-भिन्न रहती है, तब वह अपेक्षित कार्यों में असफल रहती है। मान लीजिये कि चार सगे भाई हैं, यदि वे किसी कार्य का आयोजन सम्मिलित रूप से करते हैं तो बहुत कुछ सफलता पा लेते हैं। इसके विपरीत, यदि वे पृथक्पृथक् प्रयास करते हैं तो शक्ति के विभाजित होने के कारण उन्हें असफलता ही हाथ लग सकती है।

मन की भी यही स्थिति है। उसकी चंचलता से शक्ति का जो विभाजन हो जाता है, उससे विचारों का बिखराव आ जाता है और यह तो मानी हुई बात है कि बिखरा हुआ कोई विचार शक्तिशाली नहीं हो सकता। यही कारण है कि मनुष्य में मानसिक बल की कमी बनी रहती है।

किन्तु मन में जब एक ही विचार रहता है, तब उसमें अखण्ड और असीम शक्ति भरी होती है। ऐसा ही मन साधक को अभीष्ट प्राप्त कराने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है। उस स्थिति में अभीष्ट साधना में व्यवधान की सम्भावनाएँ भी प्रायः नहीं रहतीं।

मन की प्रसन्नता में त्राटक ध्यान का योगदान

मन यदि प्रसन्न रहता है तो उसकी शक्ति के क्या कहने ? विचारों का केन्द्रीय करण मन को प्रसन्न रखने मे भी बड़ा सहायक सिद्ध होता है। यदि विचार बिखरे रहते हैं तो उनके कारण मन भी एक-सा नहीं रहता। उसमें कभी हर्षित करने वाले और कभी दुःखित करने वाले विचार उभरने लगते हैं। कभी अतीत की शोकमयी घटनाएँ याद आ सकती हैं तो कभी भविष्य में होने वाला कोई भय साकार हो सकता है। इस प्रकार मन जब अपनी शक्तियों को बिखेरे रहता है तब बहुत-से अप्रासंगिक ताने-बाने बुनता रहता है। उस स्थिति में वह पूर्ण रूप से प्रसन्न और उल्लसित नहीं रह पाता और इसलिये उसमें अपेक्षित शक्ति का भी अभाव रहता है।

मन को प्रसन्न और उल्लासमय बनाये रखने में भी त्राटक-ध्यान महत्वपूर्ण योग देता है। उस समय जिस ध्येय वस्तु पर ध्यान टिकाया

जाता है, वही वस्तु उसे दिव्य उल्लास प्रदान करती है। वह उल्लास जितना अधिक बढ़ेगा, उतनी ही अधिक दिव्यता का अनुभव होने लगेगा साधक को। किन्तु उल्लास वृद्धि साधक की साधना पर निर्भर करती है। वह अपने अभ्यास में जितना अधिक तन्मय होगा उतना ही अधिक उल्लास प्राप्त करने में सफल होगा।

आपका मानसिक उल्लास चेहरे पर उद्भासित होने लगेगा और वही तेज का रूप धारण कर लेगा। उस तेज के आकर्षण में समस्त प्राणी बँधे रह सकते हैं। आपका वही तेज दूसरों को इतना अधिक आकर्षित कर सकता है, वे आपकी सभी आज्ञाओं के पालन में तत्पर रह सकते हैं।

यदि मन प्रसन्न नहीं है तो उसमें शक्ति नहीं हो सकती। अप्रसन्न मन दुर्बल और दुःखों का घर रहता है। मन का विषाद शरीर को भी रोगी बना देता है। यदि शरीर को स्वस्थ रखना है तो पहिले मन को स्वस्थ बनाओ। मन स्वस्थ रहेगा तो कैसा भी कठिन कार्य होगा, उसे करने का उत्साह बना रहेगा।

विश्वास कीजिये—आप चाहें तो सदैव प्रसन्न बने रह सकते हैं। परमात्मा पर विश्वास कीजिये और उसी की शक्ति को सम्बल मान कर आगे बढ़िये। किसी भी कार्य में परिश्रम से पीछे मत हटिये। परिश्रम ही समस्त सिद्धियों में एक मात्र साधन है। परिश्रम के बिना कहीं कुछ नहीं होता।

परमात्मा भी जब सृष्टि की रचना करना चाहता है और एक से अनेक होने की इच्छा करता है (एकोऽहं बहुस्याम) तब उसे भी परिश्रम करना होता है। यह अनन्त रूप वाला संसार उसी के परिश्रम का फल है। वह संसार के समस्त प्राणियों के समक्ष अपने इसी अनुग्रह के द्वारा परिश्रम की प्रेरणा देता है।

छोटी-छोटी चींटियों को देखिये—वे किसी भी खाद्य के एक छोटे-से कण को लिये हुए ही दौड़ धूप करती हैं गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिये । उसका वह परिश्रम अपना क्षुद्र पेट भरने के लिये ही होता है । अन्य जीव-जन्तु भी पेट भरने के लिये ही सतत परिश्रमशील रहते हैं । वे अपने नियमित कार्यों के करने में कभी भी आलस्य नहीं करते ।

क्या मनुष्य उन चीटियों, जीव-जन्तुओं, कीड़े-मकोड़ों से भी गया बीता है, जो आलस्य में पड़ा रहना चाहता है । अपनी वासना पूर्ति के विचारों में लगा रहता है, किन्तु वासना-पूर्ति के भी साधनों को नहीं अपनाना चाहता । मान लीजिये कि आपको आज अनाज खरीदने के लिये पैसा चाहिए, किन्तु अनाज या पैसा कुछ भी नहीं है आपके पास तो आप उसकी चिन्ता में लग जाते हैं । मान लीजिये कि आपको आज ही किसी का कर्ज चुकाना है, वायदा कर चुके हैं पक्का, किन्तु पैसा नहीं है तो उससे भी चिन्तित होते हैं । क्या आपने सोचा है कभी कि अन्न खरीदने या कर्ज चुकाने में चिन्ता से कोई कार्य सिद्ध होने वाला नहीं है । उसके लिये तो कोई ऐसा उपाय करना होगा, जिससे आवश्यकता के अनुसार धन की प्राप्ति हो सके । यदि आप चिन्ता करते हुए और बिना किसी प्रकार का प्रयत्न करते हुए निठल्ले बैठे रहें तो धन की आवश्यकता पूरी नही हो सकती ।

किसी भी कार्य की पूर्ति में चिन्ता का कोइ महत्व नहीं है । महत्व है उपाय का, जो परिश्रम से ही किया जा सकता है । परिश्रम से शरीर भी क्रियाशील बना रहता है । इसलिये अपेक्षित मात्रा में परिश्रम अवश्य करो । फिर देखना कितनी अशातीत सफलता मिलेगी आपके सोचे हुए कार्य में ।

आलस्य से मनुष्य अपनी गाँठ की पूँजी भी गवाँ बैठता है । मान लीजिये कि आप योग-साधक हैं, बहुत समय से साधना करते रहे हैं निरन्तर । उसके परिणाम स्वरूप आपके मन में दिव्य शक्तियों का भी

संचार हुआ है तथा पहिले से विद्यमान किन्तु बिखरी हुई शक्तियाँ भी एकत्रित हो चुकी हैं आप अनुभव करते हैं उनके अभूतपूर्व परिणाम को। ऐसी स्थिति में आपका मन प्रसन्न है और शरीर भी स्वस्थ अब आप अपने को सुखी मानने लगते हैं पूर्ण रूप से।

परन्तु यदि उस स्थिति में आकर आप प्रमाद में भर जाते हैं, आ जाते हैं आलस्य में तो समझ लीजिये कि आप जो कुछ प्राप्त कर चुके हैं, उसे भी गँवाने जा रहे हैं। निश्चय ही आपकी प्रगति तो रुकती ही है, अवनति का अवसर भी उपस्थित हो सकता है। क्यों कि आप साधना-पथ से अलग हो जाते हैं। अभ्यास में आलस्त आ जाता है।

कोई भी पूँजी तब बढ़ सकती है, जब आप उसमें से व्यय न करें और आगे भी इतनी अर्जित करते रहें कि आजीविका चलाते रह कर भी कुछ बचत कर सकें। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो अर्जित पूँजी भी घटती जायगी और एक दिन वह आयेगा, जब शून्य रह जायगा।

यौगिक सम्पदा में भी यही नियम लागू होता है। आज तक अर्जित की हुई साधना में यदि वृद्धि न की जाती रहे तो उसमें कमी होने लगेगी। यद्यपि उस कमी का आभास आपको तुरन्त नहीं होगा, किन्तु जब होगा, तब तक आप व्यर्थ में ही-बहुत कुछ खो चुके होंगे, जिसे पुनः पाना तब तक सम्भव न होगा, जब तक कि उससे भी अधिक प्रयत्न न किया जायगा।

इसलिये आलस्य का त्याग सब से पहिला कार्य है। हमें अपने कर्तव्य में तत्पर होना चाहिए। यदि शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक सुख की कामना करते हो तो सब से पहिले आलस्य का ही त्याग करो।

मन की एकाग्रता और मादक वस्तुएँ

कुछ लोग समझते हैं कि मादक वस्तुओं का सेवन करने से मन में एकाग्रता आती है। आपने देखा होगा कुछ साधुओं को जो गाँजा-चरस आदि का दम लगाते हैं और कुछ भाँग पीते हैं, नित्य प्रति दोनों समय उनका कहना है कि नशे में मनोजय की शक्ति है। जब नशा चढ़ता है तब ध्येय के चिन्तन में भले प्रकार मन लग जाता है इसलिये उसमें चंचलता नहीं रहती।

किन्तु वास्तविकता यह है कि नशीले पदार्थों के सेवन से मनुष्य का चेतन मन भ्रमित होकर अन्तर्मन से सम्पर्क तो करने लगता है, किन्तु उस समय भी अन्तर्मन उस चेतन मन के ही भ्रमित विचारों को अभिव्यक्त करता है। उसका कारण यही है कि मस्तिष्क से जाग्रत् अवस्था के ही विचार चक्कर काटते रहते हैं। क्योंकि नशे की स्थिति न तो मनुष्य की निद्रितावस्था है, न स्वप्नावस्था ही, इसलिये जाग्रत् के विचार ही विशृङ्खलित होकर बार-बार उठते और दब जाते हैं। यही कारण है कि नशे में मनुष्य कभी कुच, कभी कुछ कहने लगता है। उस समय उसका मन स्थिर कभी नहीं रहता।

मन की स्थिरता के लिये प्रयत्न किया जाय तो वह जाग्रत् अवस्था में ही स्थिर हो सकता है। ध्यान के द्वारा उसकी चंचलता को सहज में रोका जा सकता है। यहाँ तक कि उस समय स्थिर हुए मन के कारण उसकी इन्द्रियाँ अपने भोगों के प्रति आकर्षण का केन्द्र नहीं रहतीं।

और जब ध्यान में तन्मयता आने लगती है, तब साधक बाह्य विषयों के प्रति भी बे खबर होने लगता है। ध्यान की दृढ़ता जब समाधि-अवस्था उत्पन्न करने लगती है तब जाग्रत् (चेतन) मन प्रसुप्त हो जाता है और अचेतन मन (अन्तर्मन) योगी के योग-क्षेम का उत्तर-दायित्व सँभाल लेता है। उस समय उसकी सभी क्रियाओं का संचालन अन्तर्मन ही करता है।

धारणा, ध्यान, समाधि की त्रिपुटी

योगाचार्यों ने अष्टांग योग के छठे, सातवें और आठवें अंगों को उत्तरोत्तर अधिक महत्व दिया है। वे अंग हैं—धारणा, ध्यान और समाधि। धारणा में साधक का मन किसी पदार्थ विशेष में संलग्न रहता है। उसी में, जिसमें संलग्न करने का अभ्यास किया जाय। अभिप्राय यह है कि साधक जिस इष्ट वस्तु में मन को स्थिर करना चाहे, उसमें करने का अभ्यास करता है।

वस्तुतः धारणा, ध्यान और समाधि तीनों, एक ही क्रिया विशेष के तीन अङ्ग हैं। धारणा में मन को जहाँ टिकाया जाता है, ध्यान में उसे वहीं स्थिर करने का अभ्यास किया जाता और जब उस अभ्यास में भी दृढ़ता आ जाती है तभी समाधि की अवस्था उत्पन्न हो सकती है। वास्तव में धारणा ही समाधि की आरम्भिक कड़ी है। जब वह ध्यान के साथ जुड़ जाती है तब समाधि के लिये पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है।

योग दर्शनकार का कथन है—'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य' अर्थात् 'वे धारणा, ध्यान, समाधि निर्बीज समाधि के ही अंग हैं। निर्बीज समाधि का अभिप्राय संप्रज्ञात (अन्तरङ्ग) समाधि से है।

योगी कुछ प्राप्त करना चाहता है तो उसे योग के इन तीन अङ्गों से ही प्राप्ति हो सकती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार तो इस अवस्था तक पहुँचने के लिये केवल मनोभूमि ही बना पाते हैं। इन अङ्गों का सहयोग शरीर को योग-साधना के अनुकूल बनाने और स्वस्थ रखने में भी सहायक होते हैं। किन्तु योग-साधना के उद्देश्य की पूर्ति अन्तिम तीन अङ्गों (धारणा, ध्यान, समाधि) के द्वारा ही हो सकती है।

इसीलिये महर्षि पतंजलि ने 'त्रयमेकत्र संयमः' कह कर स्पष्ट कर दिया है कि 'इन तीनों का एक ही विषय में होना संयम है।' जब तक इन तीनों का समुदाय एक ही विषय के प्रति नहीं होगा, तब तक लक्ष्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। मान लीजिये कोई तीन पहिये की गाड़ी है। उसमें एक पहिया आगे और दो पहिये पीछे की ओर लगे हैं। अब गाड़ी चलेगी तो तीनों पहियों को एक ही दिशा में चलना होगा। यदि अगला पहिया उल्टा चले और पिछले पहिये सीधे चलें तो क्या गाड़ी चल सकेगी? नहीं, कदापि नहीं। गाड़ी हिलेगी, काँपेगी, हो सकता है कि कुछ उछलने लगे और यह भी हो सकता है कि पहिये गति ही न पकड़ें। यह सब पहियों की शक्ति और परिस्थिति पर ही निर्भर करेगा।

स्पष्ट है कि धारणा किसी एक वस्तु में की जाय और ध्यान किसी अन्य वस्तु में तो प्रथम तो ध्यान में ही दृढ़ता न हो पायेगी और उस स्थिति में समाधि तो निश्चय ही बहुत दूर की बात है। इसी कारण योगी पुरुष आदि से अन्त तक एक ही ध्येय वस्तु के प्रति श्रद्धा, विश्वास बनाकर चलते रहते हैं। प्रथम पाँच अङ्गों के अभ्यास के

पश्चात् उनका इष्ट ध्येय में मन को लगाये रखना ही सिद्धि का कारण होता है।

योग-दर्शन में धारणा, ध्यान और समाधि में समान रूप से एक रूपता लाने का अभ्यास दृढ़ होने पर विवेक बुद्धि का जाग्रत् होना कहा है—'तज्जयात्प्रज्ञालोक' अर्थात् 'धारणा, ध्यान और समाधि के संयम को भी जीत लेने पर प्रज्ञा का प्रकाश होता है।' इसका अभिप्राय अलौकिक ज्ञानमयी बुद्धि के प्रकाश से है। इस प्रकार की बुद्धि साधक के समस्त अज्ञान को दूर कर देती है, जिसका ईश्वर-प्राप्ति वाला मार्ग उत्तरोत्तर प्रशस्त होता जाता है।

संयम किस प्रकार किया जाय, इस पर भी महर्षि पतंजलि ने प्रकाश डाला है। वे कहते हैं—'तस्य भूमिषु विनियोगः' (योग-दर्शन ३।६) अर्थात् 'उस संयम का क्रमशः मनोभूमियों में विनियोग करे।'

साधक को आरम्भ में मन स्थूल वृत्ति वाली भूमि में ही संयम का अभ्यास करने लगें तो तो सफलता कठिन होगी। जब स्थूल वृत्ति वाली मनोभूमि का अभ्यास पूर्ण रूपेण सफल हो जाय तब सूक्ष्म मनोभूमि में संयम करने लगे।

मन की चार वृत्तियाँ मानी गई हैं—वितर्क अनुगत, विचार-अनुगत, आनन्द-अनुगत और आस्मित-अनुगत। इन चारों में क्रमशः संयामाभ्यास करने से सभी मनोभूमियों पर शीघ्र विजय प्राप्त की जा सकती है। जब तक नीची भूमि को न जीता जा सके, तब तक ऊँची भूमि पर पहुँचना ही असम्भव है। उस उच्च भूमि में पहुँचने के लिये इन तीनों को सुदृढ़ करना चाहिए।

उच्च मनोभूमि ही मनुष्य को साधक से सिद्ध बना सकती है। क्योंकि उस समय उसका अन्तर्मन अधिक सक्रिय हो जाता है। तब तक बाह्य (चेतन) मन सक्रिय रहता है, तब तक अन्तर्मन अपनी गतिशीलता

छिपाये रखता है। किन्तु चेतन मन के निष्क्रिय होने पर उसे ही सब सार-संभार करनी होती है। क्योंकि प्रकृति ने इसी प्रकार की व्यवस्था की हुई है।

अचेतन मन (अन्तर्मन) त्रिकालज्ञ है। उसके कोषागार में तीनों (भूत, भविष्य, वर्तमान,) की विभूतियाँ विद्यमान रहती हैं। उसके लेखागार में तीनों कालों का लेखा सुरक्षित रहता है। यही कारण है कि वह भूतकालीन घटनाओं का स्मरण समय-समय पर कराता रहता है। वर्तमान तो उसके लिए कुछ अधिक महत्वपूर्ण होता ही नहीं, वह तो जाग्रत्-अवस्था में चेतन के कर्तव्य के अन्तर्गत है। हाँ, सुषुप्ति, स्वप्न या तन्द्रावस्था में अचेतन को ही वे सब कार्य करने होते हैं, जिन्हें जाग्रतावस्था में चेतन करता है।

परन्तु भविष्यकालीन घटनाओं के विषय में चेतन को कोई जानकारी नहीं हो सकती। उसे तो अन्तर्मन ही जान सकता है। क्योंकि चेतन मन त्रिपरिणामात्क है, इसलिए उसमें प्रज्ञा का प्रकाश अपेक्षित मात्रा में न पहुँचने के कारण वह भविष्यकालीन घटनाओं को देखने में असमर्थ रहता है।

जिन मनुष्यों की अतीन्द्रिय क्षमताएँ अधिक बढ़ी-चढ़ी होती हैं, वे समस्त घटनाओं का, वे चाहे किसी भी काल घटी हों, प्रत्यक्ष अनुभव करने में समर्थ रहते हैं। वे लाखों वर्ष पहिले घटित हुई घटनाओं को इस प्रकार बता सकते हैं, मानों वे उन्हें प्रत्यक्ष देख रहे हों। यही स्थिति भविष्यकालीन घटनाओं के विषय में है। उसे भी यथावत् बताने में समर्थ होते हैं।

वर्तमान काल में भी लाखों मील दूर की घटनाओं का यथावत् वर्णन कर देना अतीन्द्रिय क्षमता का फल है। आज भी अनेकों ऐसे देखे जाते हैं जो ज्योतिष आदि के सहारे नहीं, वरन् अपनी अतीन्द्रिय

क्षमताओं के बल पर ही भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल की घटनाओं को आँखों देखी घटनाओं के समान अक्षरशः कह देते हैं।

अन्तर्मन चतुर्परिणात्मक है, उसकी भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में घटित घटनाओं के साक्षात्कार में प्रज्ञा का अभूतपूर्व प्रकाश उसे तुरीयावस्था में स्थापित कर देता है। परमयोगी सिद्ध पुरुषों के समस्त व्यवहारों का आधार इसी प्रकार की अवस्था है। किन्तु यह अवस्था प्रायः स्वतः उत्पन्न नहीं हो जाती। इसके लिये सात्विक प्रकृति और योगाभ्यास की अपेक्षा होती है। मन को चतुर्परिणात्मक बनाना है अर्थात् अन्तर्मन को अधिक जाग्रत् करना है तो अवश्य ही योग-साधन करना चाहिये।

अन्तर्मन जितना अधिक जाग्रत् होगा, उतनी ही अधिक सिद्धि मिलेगी। किसी उलझी हुई गुत्थी को सुलझाना है तो यदि अन्तर्मन का सहारा लोगे तो वह शीघ्र सुलझ जायगी। किसी को वश में करना है तो भी अन्तर्मन के द्वारा कर सकते हो। सम्भव है—आपने कभी देखा हो—कोई-कोई व्यक्ति ऐसा मिल जाता है, जिसे देखते ही हम उससे प्रभावित हो जाते हैं और वह जो चाहता है हम वही करने को तैयार हो जाते हैं।

कुछ लोग सोचते हैं कि अमुक अधिकारी को प्रभावित करना है, अमुक स्त्री को वश में करना है, उसके लिये यदि कोई वशीकरण मन्त्र मिल जाय तो काम चल सकता है। इसके लिये वे प्रयत्न भी करते हैं, मन्त्र भी मिल जाता है, किन्तु वह सिद्ध कैसे हो ? क्या किसी मन्त्र की सिद्धि इतनी सरल है जो बात कहते ही हो जाय ?

बहुत से लोग तान्त्रिकों और सिद्धों के दरवाजे झाँकते फिरते हैं। चाहते हैं कि हमारा कार्य सिद्ध हो। उसके लिये पर्याप्त धन बहाकर भी लाभ नहीं उठा पाते। कारण ? यही कि सिद्धि उनके पास भी शायद

ही हो। उनकी सिद्धि का जितना प्रचार किया जाता है, उतनी सिद्धि उनमें होती नहीं। जिनमें सिद्धि होती है, वे उस प्रकार के आडम्बर को पसन्द नहीं करते और अपने प्रचार से बचने का प्रयत्न करते रहते हैं।

जो लोग सिद्ध पुरुषों का बाना धारण किये रहते हैं, जिनका प्रचार भी अधिक है, वे सभी को यन्त्रादि प्रदान करते और उनके प्रयोग की विधि बताकर विदा कर देते हैं। किन्तु उस विषय में उन्हें स्वयं यह विश्वास नहीं होता कि उनके द्वारा प्रदत्त यन्त्रादि से भक्त को कोई लाभ होगा अथवा नहीं ? क्योंकि उनके उन यन्त्रादि में मन्त्र शक्ति की कमी और आडम्बर की अधिकता होती है।

फिर भी किसी न किसी भक्त की मनोकामना पूरी हो ही जाती है। मान लीजिये कि सौ आदमी आपके पास अपनी-अपनी कामना लेकर आये और उन सभी को आपने यन्त्रादि देकर विश्वास दिला दिया कि तुम्हारी कामना पूर्ण हो जायगी। फिर सभी ने आपके बताये हुए यन्त्रादि का विधि पूर्वक उपयोग भी कर लिया। उनमें से कुछ तो ऐसे हो ही सकते हैं जिनके कार्य देश, काल और परिस्थितियों के प्रभाव से स्वतः बनने वाले होंगे। किन्तु जिनके कार्य बन जाते हैं, वे समझते हैं कि सिद्धजी की कृपा से ही यह लाभ हुआ है। इसके विपरीत, जिनके कार्य नहीं बन पाते, उन्हें यह कहकर सान्त्वना दी जाती है कि यन्त्रादि के धारण में कोई त्रुटि हुई होगी, अथवा कोई ग्रह अधिक बलवान रहा होगा, जिसने काम नहीं बनने दिया, अथवा कोई भूत-प्रेत आदि की बाधा रही होगी इत्यादि।

तात्पर्य यह है कि वशीकरण के लिए किसी सिद्ध आदि के पास जाने की आवश्यकता नहीं है। तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र जो कुछ करना चाहो, स्वयं सिद्ध कर सकते हो। तन्त्रादि की शक्ति प्राप्त करनी है तो भी

साधना की आवश्यकता अवश्य होगी। इसलिए किसी प्रकार की सिद्धि की अपेक्षा हो, साधना में तत्पर हो जाओ, कुछ दिनों में ही जान लोगे उसके शुभ परिणाम को।

कोई भी कार्य दूसरों पर छोड़ने से पूरा नहीं हो सकता। हम में जितनी चाहना है, उतनी दूसरे किसी में नहीं हो सकती। इसलिये अन्य द्वारा किये जाने वाले कार्य में शरीर का योग तो कम होगा ही, मन का योग उससे भी कम होगा। अपने इच्छित कार्य के प्रति आपकी अपनी संकल्प शक्ति भी सुदृढ़ होगी। कोई दूसरा उसी कार्य को आपके लिये चाहे कितने भी परिश्रम से क्यों न करें, उसमें संकल्प शक्ति की कमी रहने के कारण उसे आपके समान सफलता की सम्भावना नहीं हो सकती। इसीलिए मनोवैज्ञानिकों ने संकल्प शक्ति को महत्वपूर्ण माना है।

—*—

तुरीयावस्था और दोनों मनों का एकीकरण

जो अवस्था, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति से परे हो, उसे तुरीयावस्था कहते हैं। इस अवस्था में बाह्य मन शरीर का साथ छोड़कर अन्तर्मन से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। बाह्य मन का अपने कर्म से विरत हो

जाना अन्तर्मन की हलचलों के अधिक बढ़ने में मुख्य कारण होता है।

यही वह स्थिति है, जब साधक जिस विषय में कुछ जानना चाहे तुरन्त उसे जानने-देखने में समर्थ हो सकता है। यदि कोई वस्तु लाखों मील दूर है और उसे देखना है तो अन्तर्मन उसे तत्काल दिखाने का प्रयत्न करेगा। इसी स्थिति को दिव्य दृष्टि या दूर दृष्टि कहते हैं। यही दूर दर्शन क्रिया पाश्चात्य भाषा में क्लीयर वायन्स कही जाती है।

वस्तुतः यह क्रिया त्राटक साधना के अभ्यास द्वारा सरलता से सिद्ध हो जाती है। इसके विषय में हम अन्यत्र अधिक प्रकाश डाल चुके हैं। यह एक ऐसी सिद्धि है जो मनुष्य के अतीन्द्रिय ज्ञान को भी बढ़ा देती है।

बहुत बार विचार-रहित मन बड़े-बड़े चमत्कार दिखाने में समर्थ होता है। जब ध्यान की अवस्था परिपक्व हो जाती है, तब मन के विचारों का लोप हो जाता है। इस स्थिति में मनुष्य जो कुछ सुगन्ध सूँघना चाहे, जो कुछ स्वाद लेना चाहे, अथवा और भी जो कुछ अनुभव करना चाहे, कर सकता है। यह आवश्यक नहीं कि उसे अनुभव करने के साथ होने ही चाहिये। यदि हों तो दिव्यता ही क्या रही? न होने पर होने के समान अनुभव होना ही तो दिव्यता है।

मन की निर्विचार अवस्था में यदि आप किसी पुष्प की सुगन्ध का आनन्द लेना चाहें तो तुरन्त ले सकते हैं। उस समय यही अनुभव होगा कि हम किसी ऐसे स्थान में हैं, जहाँ उक्त सुगन्ध वाले पुष्पों के वृक्ष लगे हैं। किन्तु जिस पुष्प की सुगन्ध को पहिले कभी न सूँघा हो उस सुगन्ध का अनुभव नहीं हो पायेगा। जिसका अनुभव किया है, उस सुगन्ध का ग्रहण आप उस परिमाण में कर सकते हैं, जिसमें आपके निकट बैठे हुए व्यक्ति भी उसका अनुभव करने लगते हैं।

इसी प्रकार किसी भी अनुभव किये हुए खाद्य पदार्थ का स्वाद लिया जा सकता है। अन्तर्मन की इस सहायता से वह अनुभव अधिक विस्तार पा सकता है, जिसके फलस्वरूप आपके समीप बैठे हुए मनुष्य भी वैसा ही अनुभव करने लगते हैं, जैसा अनुभव आपको हो रहा होता है।

हमें एक साधु की याद आती है, जिसके चमत्कार के विषय में बहुत कुछ सुना जाता था। वह प्रायः एकान्त में रहने का अभ्यस्त था। नहीं चाहता था कि कोई उसके पास आवे। यदि कोई आता भी तो वह उसे यथा सम्भव टालने का प्रयत्न करता। फिर भी उसे तेजस्वी देखकर लोग उसके पास आते ही रहते। वह बात नहीं करता तो भी वहाँ जमकर बैठ जाते।

एक दिन एक भक्त बहुत दूर से आया था, रात भर निकल गई थी सफर में। उद्देश्य था केवल साधु-दर्शन। साधु भी उसके मन की बात तुरन्त जान गया और उसके आते बोला—'बहुत थके हो न? स्टेशन से यहाँ तक कई मील पैदल चलकर आने में मनुष्य थक जाता है। जाओ नित्य कर्म से निवृत्त होलो और फिर नाश्ता-पानी करके यहाँ बैठना।'

जब तक वह अपने नित्य कर्म, स्नानादि से निवृत्त होकर आया, तब तक वहाँ कुछ भक्तजन और भी आ चुके थे। साधु ने उस व्यक्ति से कहा—'देखो, उस कोने में पत्थर के नीचे कुछ नाश्ता रखा है, उसमें से जितना इच्छा हो स्वयं खालो और शेष को इन सब में बाँट दो।'

उसने पत्थर हटा कर देखा—गर्म पूड़ियाँ और इमरतियाँ, साथ में साग-रायता सभी कुछ। उसने अपने खाने योग्य मात्रा में रखकर शेष सामान साधु की आज्ञानुसार बाँट दिया उपस्थित व्यक्तियों में।

सभी को आश्चर्य हुआ कि यह सामान यहाँ कहाँ से आ गया? अभी तो यहाँ कोई ऐसा व्यक्ति भी नहीं आया जो इसे लाया हो। उस

पर भी सब वस्तुएँ एकदम गर्म, मानों अभी कड़ाहो से ही उतरी हों। विशेष आश्चर्य बाहर से आने वाले उस व्यक्ति को हुआ, जिसे पूड़ियों और इमरतियों से बड़ा प्रेम था।

वस्तुतः बात उस साधु की महिमा के सम्बन्ध में नहीं है, वरन् यह है कि ऐसा हुआ कैसे ? यह सब योगबल का ही चमत्कार था। कुछ लोग इसे मन्त्र-सिद्धि का श्रेष्ठ फल मानते हैं। हो कुछ भी, साधना से ही तो ऐसी सिद्धि मिली होगी।

अन्तर्मन का जागरण

अन्तर्मन की सबलता का एक चमत्कार विचार संक्रमण की क्षमता उत्पन्न होना भी है। निर्विचार वाले मन में उत्पन्न होने वाला विचार अन्तर्मन की अपरिमित सामर्थ्य को पाकर अत्यन्त बलवान हो जाता है। उस अवस्था में साधक अपने विचार को दूसरे मनुष्य के मन में संक्रमित कर सकता है। वह चाहे तो अपने विचार-संक्रमण के द्वारा बुरे मनुष्यों की आदतों में सुधार कर सकता है। जिस किसी को चाहे अपनी इच्छा के अनुसार चला सकता है। जिसे चाहे उसे दूर बैठे रहकर भी सन्देश दे सकता है। यह आवश्यक नहीं कि इस प्रकार का सम्पर्क समीपस्थ व्यक्तियों के साथ ही हो सके, कोई हजारों मील दूर पर हो तो उससे भी सम्पर्क करना बहुत सरल है। पत्र, तार, टेलीफोन, वायरलैस आदि के द्वारा समाचार भेजने में जितनी देर लग सकती है, उससे भी कम

समय में अर्थात् तुरन्त ही समाचार का आदान-प्रदान किया जा सकता है।

इस प्रकार अन्तर्मन के द्वारा साधक अनेक कठिन कार्य शीघ्र ही कर सकता है। कुछ सिद्ध पुरुष तो भारत में बैठे रहकर ही विदेशों में रह रहे रोगी भक्तों को इसी पद्धति के द्वारा भला चंगा, निरोग कर देते हैं। वस्तुतः इसमें दूरी किसी भी प्रकार बाधक नहीं बन पाती। इस सिद्धि को पाश्चात्यजन 'थॉट ट्रान्सफरेंस' कहते हैं।

इसमें यह बात समझ लेनी चाहिए कि मन कोई एक स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। वह जो कुछ भी है, सबमें एक समान है। उसमें सजातीयता इतनी अधिक है कि परस्पर एक-दूसरे के मन का मिलना असम्भव नहीं होता। जिन दो व्यक्तियों में इस क्रिया द्वारा विचारों का आदान-प्रदान होता है, उनके मन मिल जाते हैं तथा उस समय एक तारतम्यता आ जाती है। यदि ऐसा न होता तो विचारों का आदान-प्रदान कदापि नहीं हो सकता था।

सामान्य स्थिति में ऐसा नहीं होता। उसमें एक व्यक्ति के विचार आकाश तत्व के स्पन्दनों में बदल कर दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं। पहिले विचार विश्लिष्ट होकर आकाश तत्व में मिलते और वहाँ संश्लिष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यह क्रम चक्राकार रूप से चलता है। किन्तु विचार-संक्रमण वाली क्रिया में उस प्रकार का चक्राकार क्रम नहीं होता और विचार प्रेषण करने वाले के विचार सीधे उस व्यक्ति के पास पहुँचते हैं, जिसमें विचारों का संक्रमण अभीष्ट हो।

इससे सिद्ध है कि मन में अनन्त एवं विश्वव्यापी शक्ति विद्यमान है। वह एक ही है, जो आत्मा के ही समान सब शरीरों में व्याप्त है। मन के विभिन्न होने की बात शारीरिक भिन्नता के कारण ही प्रतीत होती है। यदि मन अखण्ड न होता तो विचार संक्रमण की यह क्रिया कभी भी सम्भव न होती।

गुरु अपने योग्य शिष्य में जो शक्तिपात करता है, उसका रहस्य भी यही है। शिष्य कितनी ही दूरी पर क्यों न हो, गुरु उसे अपने स्थान पर बैठा हुआ ही शक्ति दे सकता है। शिष्यों द्वारा समय-समय पर गुरु-स्मरण की परम्परा का आधार भी प्रायः यही है कि जब वे अपने गुरु का स्मरण करें तभी उन्हें शक्ति-सामर्थ्य प्राप्त हो सके। प्रायः ग्रन्थकार कवि आदि में कार्यारम्भ में गुरु-स्मरण की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। उससे ग्रन्थकारों, कवियों आदि का सदैव गुरुकृपा का अनुदान मिलता रहा है।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि "हमारी शक्ति का कुछ अंश अपने ही शरीर धारण के उपयोग में आता है, और शेष प्रत्येक अंश दूसरों पर अपना प्रभाव डालने में रात-दिन व्यय होता रहता है। हमारे शरीर, हमारे गुण, हमारी बुद्धि तथा हमारा आत्मिक बल—ये सब निरन्तर दूसरों पर प्रभाव डालते आ रहे हैं। इसी प्रकार, दूसरों का प्रभाव हम पर पड़ रहा है। हमारे आस-पास यही तो चल रहा है। एक प्रत्यक्ष उदाहरण लो—एक मनुष्य आता है तुम्हारे पास, वह पर्याप्त सुशिक्षित, सुन्दर भाषा वाला, तुम से एक घण्टा बात करता है, किन्तु फिर भी अपना प्रभाव नहीं छोड़ जाता। इसके विपरीत, दूसरा मनुष्य आता है, इने-गिने शब्द बोलता है, शायद वे शब्द भी व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध और व्यवस्थित नहीं होते, किन्तु फिर भी वह पर्याप्त प्रभाव छोड़ जाता है। यह तो तुम में से बहुतों ने अनुभव किया होगा। इससे स्पष्ट है कि मनुष्यों पर जो प्रभाव पड़ता है, वह केवल शब्दों द्वारा ही नहीं। शब्द ही नहीं, विचार भी प्रभाव का एक तृतीयांश ही उत्पन्न करते होंगे, शेष दो तृतीयांश प्रभाव तो उसके व्यक्तित्व का ही होता है।"

व्यक्तित्व के निर्माण में शब्द, व्याकरण, बोल-चाल का ढँग आदि उतने सहायक नहीं होते, जितना मन होता है। किसी भी कार्य में

हमारी सफलता—असफलता मन पर ही बहुत कुछ निर्भर रहती है। इसलिये हमें यथा सम्भव यही प्रयत्न करना चाहिए कि हमारा मन दुर्बल न रहे, वह सबल और स्थिर हो जाय। ऐसा होने पर व्यक्तित्व निर्माण स्वतः होने लगता है। किन्तु इसके लिये अभ्यास की आवश्यकता होती है।

त्राटक साधना की विधि और अनुभूतियाँ

अक्षर ब्रह्म-ओंकार का त्राटक

त्राटक का अभ्यास आरम्भ करने से पहले भगवान ओंकार का अक्षर चित्र सफेद कागज, कपड़े या टीन प्लेट पर काली स्याही से तैयार करलें। ध्यान रहे लाल स्याही का रक्त वर्ण का उपयोग न हो। ऐसा चित्र लगभग २ फीट की दूरी पर मेज पर रखा रहे या दीवार पर टंगा रहे। यह दृष्टि के सामने या कुछ ऊपर भी हो सकता है। बैठने के लिए आरामदायक आसन रहे।

त्राटक से पूर्व निम्न प्रारम्भिक क्रियाओं को करने से त्राटक में शीघ्र सफलता प्राप्ति की आशा की जा सकती है—

१. दीर्घ ओंकार ध्वनि—कम से कम २७ बार दीर्घ प्रणव की ॐ ध्वनि का उच्च स्वर से उच्चारण करें। घन्टे पर चोट मारने और छोड़ देने पर देर तक एक लम्बी ध्वनि का आभास होता रहता है। ऐसे

ही एक पूरे श्वाँस में एक बार ओंकार का उच्चारण करना चाहिए। आचार्यों का निर्देश है कि ओंकार का उच्चारण दीर्घ घन्टा नाद की तरह तो होना ही चाहिये परन्तु उसके शब्दों का स्पन्दन मूलाधार चक्र से उठना चाहिए। दीर्घ घन्टा नाद की तरह ओंकार के उच्चारण की ध्वनि नाभि से आरम्भ होकर कण्ठ की ओर चढ़ती अनुभव हो। ध्वनि के साथ यहाँ भावना करनी चाहिए कि मेरे ओंकार उच्चारण से वह ध्वनि सारे विश्व में फैल रही है और अणु-अणु से वह ध्वनि प्रस्फुटित हो रही है। ऐसा लग रहा है जैसे सारा विश्व ओंकार का पवित्र उच्चारण कर रहा है, उस विराट ब्रह्म की उपासना कर रहा है।

२. लम्बे गहरे श्वास के साथ तीव्र ओंकार ध्वनि—लम्बे गहरे श्वास के साथ तीव्र गति से ओंकार का उच्चारण करें। उच्चारण करते समय आगे की ओर या चक्राकार गति से झूम सकते हैं। कुछ समय के बाद ओंकार का उच्चारण 'हुँ' शब्द में परिवर्तित हो जाता है अथवा 'ॐ' की बजाए 'हुँ' शब्द का उच्चारण होने लगता है। इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता और न ही करना चाहिए। यह स्वाभाविक रूप से अपने आप घटित होता है। इसे सफलता का चिन्ह ही मानना चाहिए। 'हुँ' के अतिरिक्त 'हं' 'हाँ' आदि शब्दों का उच्चारण भी होने लगता है। फिर इन शब्दों का भी लय हो जाता है और केवल श्वास चलती रहती है।

विधि और अनुभूतियाँ

ओंकार त्राटक के साथ ओंकार का उपांशु या मानसिक जप भी करें। चित्र पर खुले नेत्रों से अपलक देखते रहें। प्रयत्न यह रहे कि आँख झपके नहीं। आरम्भ में अपलक दृष्टि का प्राप्त होना तो सम्भव नहीं है। बीच-बीच में जब रुकना सम्भव न हो तो आँखों को झपका सकते हैं परन्तु प्रयत्न यह रहे कि अधिक से अधिक समय तक अपलक

दृष्टि से भगवान ओंकार के अक्षर चित्र पर देखते रहें। जप भी साथ-साथ चलता रहे।

कुछ समय के सफल अभ्यास के बाद नेत्र ओंकार चित्र पर स्थिर होने लगते हैं। स्थिरता के साथ माला पर थिरकती अंगुलियाँ रुक जाती हैं, वाणी से जप भी रुक जाता है अथवा वाणी मौन हो जाती है। जब तक नेत्र स्थिर रहते हैं, साधक की यही स्थिति रहती है।

यह आवश्यक नहीं कि नेत्र आरम्भ से ही स्थिर होने लगेंगे। आरम्भ में कुछ क्षणों के लिए स्थिर रहना भी आशाजनक प्रतीत होगा। कभी-कभी कुछ क्षणों के लिए टिकेंगे, फिर अस्थिर हो जायेंगे। इस तरह साधना काल में भी कभी एक बार, दो बार अथवा चार-पाँच बार स्थिरता आ सकती है।

स्थिरता का बढ़ना सफलता का चिन्ह माना जाता है। पूरे खुले नेत्रों से त्राटक में असुविधा प्रतीत हो तो अर्द्ध खुले नेत्रों से अभ्यास करें। अर्द्ध खुले नेत्रों से अधिक देर तक चित्र की ओर देखने में सुविधा रहती है। स्थिरता के लिए भी इससे सहयोग मिलता है।

जब कुछ समय के लिए नेत्र चित्र पर स्थिर हो जाते हैं तो हाथ रुक जाते हैं। हाथों के रुकने के साथ माला भी रुक जाती है और जप नहीं हो पाता, वाणी भी मौन हो जाती है। दोनों शिथिल हो जाते हैं। हाथों की शिथिलता के साथ शरीर के अन्य भाग अथवा पूरा शरीर भी शिथिल हो सकता है या किसी ओर भी गिर सकता है। यह प्रणव योग में आगे बढ़ने के लक्षण हैं। ध्यान में शारीरिक शिथिलता के साथ शरीर धीरे-धीरे किसी ओर भी झुककर गिरने की स्थिति में आ सकता है। शिथिलता धीरे-धीरे बढ़ती है और शरीर का गिरना भी धीरे-धीरे होता है। अन्त में पूरा शरीर गिर जाता है। अभ्यास के साथ समय में भी परिवर्तन होता रहता है। यदि पहिले ४५ मिनट के त्राटक और

ध्यान से शरीर गिरता है तो बाद में ३० मिनट में ही गिर जाता है। फिर इससे भी कम समय लगता है।

ध्यान के समय ऐसा लगता है कि बाँहों व टाँगों की नसें तन रही हैं। इनमें बिजली दौड़ रही है अथवा गर्मी बढ़ रही है। झनझनाहट का सा अनुभव होता है। हाथ पैरों से यह विद्युत प्रवाह बाहों में ऊपर की ओर बढ़ता है और फिर सारे शरीर में फैल जाता है। साधना के समय विद्युत प्रवाहित होती ही है, सफल साधकों में यह विद्युत प्रवाह स्थाई रूप धारण कर लेता है और किसी भी समय इस ब्रह्म कीर्तन को सुना जा सकता है।

भगवान ओंकार के अक्षर चित्र पर जब नेत्र अधिक देर तक स्थिर होने लगते हैं तो चित्र कभी काला, कभी मटमैला और कभी चमकीला दिखाई देता है। काला भाग गहरा काला नहीं रहता। वह हल्का होने लगता है। हल्का होने पर हल्का सुनहरा या हल्का पीला हो सकता कहीं हल्का और कहीं गहरा भी हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी चतुर कलाकार ने अपनी उच्चकला का प्रदर्शन किया है।

इसके बाद चित्र के ऊपर या नीचे का कोई भी भाग ओझल होने लगता है। अक्षर चित्र का ऊपरी भाग पूरा दृष्टिगोचर नहीं होता, कटा हुआ सा प्रतीत होता है। कभी-कभी बीच-बीच में धब्बे भी दिखाई दे सकते हैं। सितारों की झिलमिलाहट की सी अनुभूति भी हो सकती है। धीरे-धीरे ओंकार का पूरा चित्र अदृश्य हो जाता है। कुछ भी दिखाई नहीं देता।

शून्य ही शेष रह जाता है। कुछ न दिखाई देने पर भी नेत्र अविचल रहते हैं। साधना विकसित होने पर खुले अविचल नेत्र अपने आप बन्द हो जाते हैं। साधक आन्तरिक ध्यान में प्रविष्ट हो जाता है।

नेत्र स्थिर होने पर मन की चंचलता भी समाप्त हो जाती है। वह इधर-उधर जाने का साहस नहीं कर सकता। ऐसा लगता है कि मन

ठहर गया है अथवा उसका लय हो गया है। इस स्थिति में मन में शान्तिदायक लहरें एक ओर से दूसरी ओर प्रवाहित होती सी प्रतीत होती हैं। मन चाहता है कि घन्टों इस आनन्ददायक स्थिति में आसीन रहे। यही कारण है कि साधक समय की परिधि को भी पारकर जाता है। यदि साधना पर बैठे एक घन्टा हो गया हो तो उसे ऐसा लगता है कि अभी कुछ मिनट ही हुए हों।

मन की स्थिरता के साथ विचारों की भीड़ भी कम होने लगती है। धीरे-धीरे निर्विचार स्थिति भी आ सकती है। इस निर्विचार स्थिति से साधक समाधि अवस्था में प्रविष्ट होता है।

भगवान् ओंकार के छाया चित्र का त्राटक

डेढ़ फीट लम्बे और एक फीट चौड़े सफेद कागज अथवा टीन की प्लेट लें। कागज को एक पट्टे पर चिपका लें और टीन प्लेट पर सफेद पेंट करें। काली स्याही अथवा रङ्ग के भगवान् ओंकार का एक ऐसा चित्र बनाएं जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश—तीनों देवताओं का वह सम्मिलित रूप दिखाई दे रहे हों। कमल पर स्थित, एक हाथ में वेद और दूसरे में सर्प, पीताम्बर धारी दिव्य चित्र हो। भगवान ओंकार का वाहन-हंस अलग दिखाई दे रहा हो। चित्र को २-३ फीट की दूरी पर दीवार पर टांग लें या छोटे मेज पर रख लें।

छाया चित्र को अपलक दृष्टि से देखना आरम्भ करें। नए साधकों को स्थिर दृष्टि प्राप्त होने में समय लगेगा। नेत्र बीच-बीच में झपक सकते हैं। साधना में धैर्य पूर्वक लगे रहें। एक दिन सफलता अवश्य मिलेगी। जब नेत्र स्थिर होने लगेंगे तो ऐसा अनुभव होगा कि काले छाया चित्र के चारों ओर दिव्य प्रकाश दिखाई दे रहा है। यदि काले छाया चित्र को हटा दिया जाय तो वह सफेद प्रकाश का भगवान ओंकार का स्पष्ट चित्र दृष्टि गोचर होने लगेगा। सफेद प्रकाश का प्रकट

होना साधना में प्रगति का सूचक है। यदि प्रकाश उभरता नहीं है तो समझना चाहिए कि अभी साधना प्रारम्भिक स्तर पर ही है।

धीरे-धीरे काला रङ्ग हलका होता चला जायगा और उस पर एक सफेद झीना आवरण चढ़ता जायगा स्थिरता के अभाव में सफेद आवरण हट जायगा और काला रङ्ग उभर आयगा। इस तरह से काले और सफेद का क्रमशः अदृश्य होना और चमकने का क्रम बना रहेगा। साधक को ऐसा प्रतीत होगा कि छाया चित्र में प्राण प्रवाहित होने के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे हैं क्योंकि भगवान ओंकार के विभिन्न अङ्ग गतिशील होते दिखाई देते हैं। स्थूल शरीर से एक प्राण शरीर अलग होकर पीछे की ओर या सामने स्थित दिखाई देता है। एक से दो शरीर दिखाई देता है। एक से दो शरीर दिखाई देने लगते हैं। यह दोनों चित्र भी एक स्थान पर स्थित नहीं रहते वरन् उनमें भी गति बनी रहती है। जब दोनों शरीरों पर दृष्टि स्थिर बनी रहे तो समझना चाहिए कि साधना द्रुत गति से बढ़ रही है। दो शरीर फिर एक हो जायगे। काले पर सफेद आवरण प्रभावी सिद्ध होगा और ऐसी भी सौभाग्य की घड़ी आयेगी जब काला रङ्ग पूर्णतः अदृश्य हो जायगा और सफेद उज्वल प्रकाश ही शेष रह जाएगा। इस स्थिति में त्राटक बना रहे तो साधक का उच्च आध्यात्मिक भूमिका में प्रविष्ट होना माना जाएगा क्योंकि भगवान् ओंकार के छाया चित्र के पूर्णतः ओझल होने पर श्वास बहुत धीमी सी हो जाती है, मन स्थिर हो जाता है, विचारों का आगमन रुक जाता है, शान्ति की लहरें मनः क्षेत्र में प्रवाहित होने लगतीं हैं। २-३ घण्टे में त्राटक का अभ्यास बना रहे तो समाधिस्थ होने की अन्य घड़ी भी आ सकती है।

एक से दो शरीर होने का अर्थ है—सृष्टि की रचना। दोनों चित्रों का स्थिर रहने का अभिप्राय है—उस रचित सृष्टि का बने रहना और दो का एक होने का संकेत है—सृष्टि का लय होना। ब्रह्मा सृष्टि की

रचना करते हैं, विष्णु उसका पालन पोषण करते हैं और शिव उसका लय करते हैं। यह तीनों स्थितियाँ ओंकार साधना में प्रत्यक्ष रूप से दृष्टि गोचर होती रहती हैं। साधना में तीनों स्थितियों का प्रत्यक्ष दिखाई देना इस तथ्य का प्रमाण है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव—तीनों देवता ओंकार में स्थित हैं, तीनों का सम्मिलित रूप ही ओंकार है। ओंकार में सृष्टि, पालन और नाश के तीनों गुण विद्यमान है। ओंकार साधक विश्वामित्र की तरह नई सृष्टि की रचना करने की क्षमता रखता है, नए विचारों, भावों, कार्यों और अनुभूतियों को जन्म देता है। ओंकार से प्राप्त शक्ति स्थिर रहती है, जिन सद् विचारों की रचना हुई है, वह जीवन के अन्त तक बने रहते हैं और साधक को विकास पथ पर अग्रसर रहने में सहायक सिद्ध होते हैं। कुविचारों कुप्रवृत्तियों, और कुभावनाओं को ओंकार विनष्ट भी करते चलते हैं और पुराने जन्मों के संस्कारों की निवृत्ति करते रहते हैं। इस तरह से वह ब्रह्मा विष्णु और महेश तीनें देवताओं का कार्य स्वयं सञ्चालित करते हैं। दिव्य क्षमताएँ विकसित होने लगती हैं, अपूर्णताएँ दूर होती जाती हैं और पूर्णता के पथ पर आरूढ़ होने की सम्भावना दिखाई देने लगती है।

भगवान ओंकार के छाया चित्र के अदृश्य होने का अभिप्राय यह है कि साधक के शरीर भाव का लोप होकर आत्मभाव जाग्रत् हो रहा है। अब उसे सुख दुःख की अनुभूतियाँ प्रभावित नही करतीं। दोनों को एक रूप में देखने लगता है। सुख में अधिक हर्षित और दुःख में चिन्तित नहीं रहता। कामदेव यदि अपनी चञ्चल वृत्ति का प्रदर्शन करके साधक के मन पर आक्रमण करता है तो साधक में इतनी क्षमता विकसित हो जाती है कि वह अपने तृतीय नेत्र—विवेक की आँख को खोल कर काम भाव को नष्ट कर दे। कामुक प्रवृत्तियाँ उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकती। भौतिक धन, सम्पत्ति की हानि उसे विचलित नहीं करती, विरोधी परिस्थितियाँ इसे निराश नहीं कर सकतीं। वह अडिग रूप से

अपने कर्तव्य पथ पर चलता रहता है। वह शाँत भाव में स्थित रहता है, आवेश, उत्तेजना और क्रोध उसे स्पर्श तक नहीं कर सकते क्योंकि इनका सम्बन्ध की शरीर से ही है। अलोभ वृत्ति जाग्रत होती है। धन के आकर्षण में वह भ्रष्टता, बेइमानी, चोरी आदि का सहारा नहीं लेता। अपना स्वयं का शरीर तो साधक का छाया मात्र प्रतीत होने ही लगता है, दूसरे प्राणियों में भी उसे ऐसी अनुभूतियाँ होने लगती हैं। शरीर का नाश होना उसके लिये केवल वस्त्र बदलने जैसी एक सामान्य क्रिया मात्र ही रह जाती है। वह अपनी मृत्यु को प्रत्यक्ष रूप से देख लेता है। इसलिए मृत्यु से भयभीत नहीं होता। अन्य किसी सम्बन्धी या घनिष्ट मित्र की मृत्यु पर भी वह दुःखी नहीं होता। यही कारण है कि भौतिक परिवर्तनों के शुभ-अशुभ परिणामों के वह पूर्णतः अप्रभावित रहता है। वह अपने भविष्य की चिन्ता नहीं करता क्योंकि शरीर भाव गिरने पर उसका कोई भविष्य ही नहीं रहता। भविष्य की चिन्ता समाप्त होने पर ही उसे पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है। अहंभाव की निवृत्ति से ही यह परम सौभाग्य की उच्च स्थिति जाग्रत हो सकती है।

भगवान् ओंकार कमल पर स्थित है। कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है। उसके चारों ओर कीचड़ और गन्दा पानी रहता है परन्तु वह फिर भी निर्मल और पवित्र रहता है। जिस तरह पानी में रहता हुआ भी कमल का पत्ता उससे अलग रहता है, उसी तरह साधक संसार के सभी कर्तव्यों का पालन करता हुआ उनसे अलिप्त रहता है। संसार में स्वार्थ लोभ, अत्याचार, अन्याय, हिंसा, झूठ, छल, कपट बेईमानी का गंदला वातावरण व्याप्त है, जुआ, शराब, वासना, कामुकता और विभिन्न प्रकार के नशों का ताण्डव नृत्य हो रहा है परन्तु यह सब त्राटक को स्पर्श भी नहीं कर सकता।

कमल को प्रकाश प्रिय है, वह सदैव प्रकाश की ओर रहता है। जब सूर्य निकलता है, कमल अपनी पंखुड़ियाँ खोल देता है' मानों अपनी

अपार प्रसन्नता का प्रदर्शन कर रहा हो। जब तक सूर्य रहता है, उसका मुख प्रकाश की ओर ही रहता है। वह निरन्तर "तमसो मा ज्योर्गमय" का जप करता रहता है। ईश्वर की उसे मौन स्वीकृति भी प्राप्त हो जाती है। ओंकार साधक को भी अज्ञानान्धकार और अविवेक अप्रिय है। ज्ञान, प्रकाश, ज्योति और विवेक को प्राप्त करने का महान सौभाग्य उसे प्राप्त होता है। जब उसके भीतर प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है तो अन्धकार नहीं रहता। उसका अस्तित्व कमल के फूल की तरह खिलता है, प्रस्फुटित होता है और वह उभरता के बोध से भर जाता है। चेतना का विकास होता है। कमल के फूल का खिलना चेतना के गहरे विकास की उपलब्धि की ओर संकेत करता है। यह पहले मूलाधार चक्र से सातवें सहस्रार चक्र की लम्बी यात्रा की पूर्णता का द्योतक है। जब साधना द्वारा उपार्जित सारी ऊर्जा सहस्रार चक्र को मिल जाती है तो वह एक हजार पंखुड़ियों वाला खिला हुआ फूल बन जाती है यह चेतना का उच्चतम शिखर है, यह पूर्ण चेतना को प्राप्त होता है ओंकार साधक को अपने भीतर पूर्ण चेतना प्राप्त करने, पूर्ण रूप से खिलने की सूक्ष्म अनुभूति का महान् सौभाग्य प्राप्त होता है।

भगवान् ओंकार का वाहन हंस है। हंस का एक विचित्र गुण यह है कि उसके सामने दूध और पानी मिला कर रख दिया जाय तो वह दूध को पी लेगा और पानी को छोड़ देगा। हंस इस विवेक के जाग्रत होने का द्योतक है। साधक जितना अचेतन से चेतन की ओर बढ़ता जाता है, उतना ही वह अन्धकार से प्रकाश की ओर चलता है। विवेक के सहारे वह आत्मानुभूति का सौभाग्य भी प्राप्त करता है।

भगवान ओंकार पीताम्बर-पीत वस्त्र धारण करते हैं, पीत वस्त्र त्याग और बलिदान की पवित्र भावनाओं के प्रतीक हैं। गृहस्थ धर्म को त्याग कर जब साधक वानप्रस्थ आश्रम में जाता है तो वह पीत वस्त्र धारण करता है। अपने गृहस्थ जीवन में भी उसने त्याग का पाठ पढ़ा

है परन्तु वह केवल अपने परिवार तक ही सीमित था। अब उस त्याग के विकास का समय आता है। अतः उस भावना के प्रतीक रूप में आवरण धारण करता है ताकि हृदय में स्वार्थ की जो गुत्थियाँ विद्यमान हैं, वह परमार्थ भावना की छाया में खुल जायें और वह सारे विश्व को ही अपना परिवार मान ले। उनके लिये जिये, उसके लिये मरें। जब इन पवित्र भावनाओं का साधक के हृदय में उदय होता है तो वह विश्व रूप हो जाता है। सर्वत्र उसे अपना रूप ही फैला हुआ दिखाई देता है। यह तब ही सम्भव हो पाता है जब चारों ओर विराट् के दर्शन होने लगते हैं। जब शरीर भाव गिरकर आत्मभाव जाग्रत् हो जाता है। भगवान ओंकार का यह पीत वस्त्र वास्तव में साधक को उसी रङ्ग में रङ्ग देता है।

भगवान ओंकार के एक हाथ में वेद दिखाई देता है। वेद का अर्थ ज्ञान है अथवा ज्ञान के कोष खजाने और भण्डार को ही वेद कहते हैं। जिससे धर्म को जाना जाय, वही वेद है, अर्थात् धर्म की वास्तविकता को जानने का वैज्ञानिक मार्ग वेद है। यही उसकी कसौटी है। धर्म और अधर्म के निर्णायक वेद ही हैं। जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय जाना या प्राप्त किया जाता है, उसे वेद कहते हैं। इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति के अलौकिक उपाय जिस ग्रन्थ में बताए गए हैं, उसका नाम वेद है। सत्य विद्याओं को जिनसे जाना जाय, प्राप्त किया जाए अथवा विचार किया जाए, उसे वेद कहते हैं, वेद को श्रुति भी कहते हैं। ऋषियों ने समाधि अवस्था में ईश्वरीय वाणी के रूप में जो कुछ गुना उसी को वेद कहते हैं। ओंकार साधना का यह महान् सौभाग्य है कि वेद रूपी ज्ञान सम्पदा उसके मन में स्वतः अवतरित होने लगती है और उसका मनःक्षेत्र अज्ञानान्धकार से शून्य हो जाता है और वह भी धन्य घड़ी आती है जब सफल

ओंकार साधक के जीवन का सम्पूर्ण काया कल्प हो जाता है और वह वास्तव में एक ऋषि के रूप में अपने को परिवर्तित हुआ पाता है।

भगवान ओंकार के दूसरे हाथ में शंख है। शंख ध्वनि में रोग कीटाणु नाशक शक्ति है। शंख ध्वनि अत्यन्त तीव्र और असाधारण होती है जो क्षण भर में हजारों मील की यात्रा करती है। शंख जब बजता है तो वह एक व्यापक क्षेत्र को प्रभावित करता है, उस क्षेत्र में जो भी आसुरी शक्तियाँ आती हैं, वह उन्हें नष्ट करता जाता है। शंख दैवी शक्ति के रूप में कार्य करता है। वह चाहता है कि उसके प्रभाव क्षेत्र में समस्त आसुरी शक्तियों का विनाश हो जाए। भगवान ओंकार भी अपने साधक से यही आशा रखते है। जो धन, सम्पत्ति, विद्या, ज्ञान भगवान ने उसे दिया है, वह तिजोरी में बन्द रखने के लिए नहीं है वरन् उसका अधिकारी वर्ग में वितरण करना अभीष्ट है। प्रचार का माध्यम भाषण, पुस्तक, लेख, वार्ता या कुछ भी हो, अच्छे विचारों का प्रसार होना चाहिए। अधर्म का नाश करके धर्म का चक्र चलना चाहिये। दिव्य पुरुषों का यही कर्तव्य है, भगवान् ओंकार चाहते हैं कि शंख ध्वनि की तरह अपनी गतिविधियों को तीव्र रखें और पूरी शक्ति से कार्य करें। मुर्दों की तरह केवल लकीर पीटने से कोई लाभ नहीं सच्चा ओंकार साधक वही हैं जो अपनी समस्त शक्तियों को दिव्य विचारों के प्रसार में लगा देता है।

भगवान ओंकार के गले में सर्प लटके रहते हैं। सर्प क्रोध का प्रतीक है। क्रोध तब आता है जब व्यक्ति का विवेक नष्ट हो जाता है और उसका मस्तक अहंकार से ओत प्रोत हो जाता है। अहंकार भी एक मानसिक रोग हैं जिसकी प्रखर भूमि पर क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध का प्रगट होना मानसिक निर्बलता का चिन्ह है। यह शारीरिक मानसिक और आत्मिक हर दृष्टि से हानिकारक है। कबीर ने क्रोध को काल कहा है। वास्तव में क्रोधी व्यक्ति दिन रात अपने को जलाता

रहता है। भगवान ओंकार क्रोध रूपी सर्प से भलि-भाँति परिचित हैं। फिर भी उसे गले लगाए रहते हैं। क्रोध उनके नियन्त्रण में रहता है। वह पूर्ण शान्त हैं, उन्हें उत्तेजित किया जाना सम्भव नहीं है। सर्प मानव जाति का शत्रु माना जाता है क्योंकि उसके काटने से मनुष्य का मूल्यवान शरीर नष्ट हो जाता है। भगवान ओंकार में दिव्यता ओत-प्रोत है। वह शत्रु को भी गले लगा कर उनके मन को संशोधित करने की नीति अपनाते हैं। वह अहिंसक हैं। इसलिए हिंसक जन्तुओं से भी उन्हें कोई भय नहीं रहता। वास्तव में हिंसक जन्तुओं की हिंसा वृत्ति ही बदल जाती है। सर्प का काटने का स्वभाव अवश्य है परन्तु अहिंसक के सामने वह अपने जन्म जात स्वभाव को भी भूल जाता है। प्रेम के सामने वह अपना समर्पण कर देता है और उसी रूप में ढल जाता है। वह निर्भय रूप से गले में लहराता है। दोनों में प्रेम का आदान-प्रदान होता हैं और शत्रु मित्र हो जाते हैं। भगवान ओंकार भी यही चाहते हैं कि अपने वास्तविक रूप को समझो, चारों ओर अपने को ही बिखरा हुआ देखो, अपने विराट् रूप को अनुभव करो और सभी विरोधों और शत्रुताओं को भूल कर प्रेम का अमृत पियो क्योंकि प्रेम ही परमात्मा है।

यह केवल प्रतीक प्रेरणाएँ ही नहीं हैं वरन् त्राटक साधना से साधक उच्चतम स्थिति तक निश्चित रूप से पहुँच जाता है और अलभ्य मान सिक शान्ति को निश्चित रूप से प्राप्त करता है।

॥ समाप्त ॥

अ. भा. ओंकार परिवार की स्थापना

ॐ परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ व स्वाभाविक नाम हैं। इसे मन्त्र शिरोमणि, मन्त्र सम्राट, मन्त्र राज, बीजमन्त्र और मन्त्रों का सेतु आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। इसे श्रेष्ठतम् महानतम् और पवित्रतम् मन्त्र की संज्ञा भी दी जाती है। सारे विश्व में इसकी तुलना का कोई मन्त्र नहीं हैं। ॐ सभी मन्त्रों को अपनी शक्ति से प्रभावित करता है। सभी मन्त्रों की शक्ति ओंकार की ही शक्ति है। यह शक्ति और सिद्धिदाता हैं। भौतिक व आत्मिक उत्थान के लिए कोई भी दूसरी श्रेष्ठ व सरल साधना नहीं है।

सभी ऋषिमुनि ॐ की शक्ति और साधना से ही अपना आत्मिक उत्थान करते रहे हैं। परन्तु आज आश्चर्य है कि ॐ का अन्य मन्त्रों की तरह व्यापक प्रचार नहीं है। इस कमी का अनुभव करते हुए अ० भा० ओंकार परिवार की स्थापना की गई है। आप भी अपने यहाँ इसका एक प्रचार केन्द्र स्थापित करें। शाखा स्थापना का सारा साहित्य निःशुल्क रूप से प्रधान कार्यालय, बरेली से मँगवा लें, आपको केवल इतना करना है कि स्वयं ओंकारोपासना आरम्भ करके ४ अन्य मित्रों व सम्बन्धियों को प्रेरित करें और सभी संकल्प पत्र व शाखा स्थापना का प्रार्थना पत्र प्रधान कार्यालय को भिजवा दें। इस वर्ष २७००० साधकों द्वारा ६०० करोड़ मन्त्रों के जप का महापुरश्चरण पूर्ण किया जाना है। आशा है ओंकार को जन-जन का मन्त्र बनाने के इस श्रेष्ठतम् आध्यात्मिक महायज्ञ में सम्मिलित होकर महान् पुण्य के भागी बनेंगे।

विनीत :—

संस्कृति संस्थान **चमनलाल गौतम**

ख्वाजाकुतुब, बेदनगर, बरेली–२४३००३ (उ.प्र.)

एक मौन व्यक्तित्व का मौन समर्पण

डा० चमनलाल गौतम-एक व्यक्ति का नहीं वरन् ऐसे विशाल धार्मिक संस्थान का नाम है जो सतत् २४ वर्षों से ऋषि प्रणीत आर्ष साहित्य के शोध, प्रकाशन और व्यापक साहित्य प्रचार का कार्य देश विदेश में करता रहा है। यह उनकी तप साधना का ही परिणाम है कि किसी भी आर्थिक सहयोग के बिना वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृतियाँ, पुराण व मन्त्र-तन्त्र आदि साधनात्मक साहित्य की ३०० से अधिक पुस्तकों को प्रकाशित करके घर-घर में पहुँचाने की पवित्रतम साधना कर रहे हैं। मन्त्र-तन्त्र, योग, वेदान्त व अन्य धार्मिक विषयों पर १५० खोज पूर्ण ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन एक ऐसा अविस्मरणीय व आसाधारण कार्य है जिस पर उनके अथक श्रम, गम्भीर अध्ययन, तप, प्रतिभा और मौलिक सूझ-बूझ की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। स्वस्थ साहित्य की रचना और प्रचार का उनकी जीवन योजना का यह पहला चरण पूरा हुआ।

पिछले २४ वर्षों से लगातार चल रही अध्यात्मिक साधना के महापुरश्चरण का दूसरा चरण भी समाप्त हो रहा है। तीसरे चरण-आध्यात्मिक साधनाओं और अनुभूतियों के विश्वव्यापी विस्तार का शुभारम्भ अ० भा० ओंकार परिवार की स्थापना के साथ वसन्तपञ्चमी की परम पवित्र वेला के साथ हो गया है। अतः उनका शेष जीवन तीसरे चरण की सफलता, ओंकार परिवार की शाखाओं के व्यापक विस्तार के माध्यम से करोड़ों व्यक्तियों को ओंकार साधना में प्रविष्ट करके उच्च आध्यात्मिक भूमिका में प्रशस्त करना, ओंकार अथवा उच्च आध्यात्मिक साहित्य की रचना व प्रचार-प्रसार को समर्पित है।

स्वामी सत्य भक्त

उत्कृष्ट व मौलिक साहित्य-ग्रन्थ

१—मंत्र-महाविज्ञान ४ खण्ड	...	३६)
२—मंत्र योग	...	८)
३—वैदिक मंत्र विद्या	...	८)
४—मंत्र शक्ति से रोग निवारण	...	६)
५—मंत्र शक्ति से विपत्ति निवारण	...	६)
६—मंत्र शक्ति से कामना सिद्धि	...	६)
७—मंत्र शक्ति के अद्भुत चमत्कार	...	४)
८—ओंकार सिद्धि	...	६)२५
९—तंत्र महासाधना	...	११)
१०—शारदा तिलक	...	११)
११—लक्ष्मी सिद्धि	...	८)७५
१२—देव रहस्य	...	११)
१३—विष्णु रहस्य	...	३)७५
१४—शिव रहस्य	...	६)
१५—हस्तरेखा महाविज्ञान	...	११)
१६—ज्ञानेश्वरी भगवद्गीता	...	१२)
१७—प्राणायाम के असाधारण प्रयोग	...	६)१०
१८—दास बोध	...	८)
१९—षोडश संस्कार पद्धति	...	८)
२०—दृष्टान्त सरित सागर	...	९)
२१—शक्ति सम्राट कैसे बनें ?	...	४)
२२—चिन्तायें कैसे दूर हों ?	...	३)७५
२३—तंत्र विज्ञान	...	६)
२४—तंत्र रहस्य	...	६)
२५—तंत्र महाविद्या	...	६)
२६—तंत्र महासिद्धि	...	६)

प्रकाशक :— संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेद नगर,
बरेली-२४३००३ (उ० प्र०)